



# शमशा

जनवरी-मार्च १९६६

वर्ष ६४

अंक १-३



प्रधान सम्पादक  
प्रो० सागरमल जैन

सम्पादक

डा० अशोक कुमार सिंह

सह-सम्पादक

डा० शिव प्रसाद

वर्ष ४४

जनवरी-मार्च, १९९३

अंक १-३

प्रस्तुत अङ्क में

- |  |    |
|--|----|
| १. आत्मोपलब्धि की कला : ध्यान<br>—महोपाध्याय मुनि चन्द्रप्रभसागर   | १  |
| २ आचार्य हरिभद्र और उनका योग<br>—डा० कमल जैन   | ८  |
| ३ डा० ईश्वरदयाल कृत "जैन निर्वाण : परम्परा और परिवृत्त" लेख में 'आत्मा की माप-जोख' शीर्षक के अन्तर्गत उठाये गये प्रश्नों के उत्तर<br>—पुखराज भण्डारी | २८ |
| ४. पल्लवनरेश महेन्द्रवर्मन "प्रथम" कृत मत्तविलासप्रहसन में वर्णित—धर्म और समाज<br>—दिनेश चन्द्र चौबीसा   | ३५ |
| ५ सार्धपूर्णमागच्छ का इतिहास<br>— शिवप्रसाद  | ४२ |
| ६. पार्श्वनाथ शोधपीठ परिसर जनवरी-मार्च १९९३  | ६० |
| ७ पी०-एच० डी० उपाधि प्राप्त  | ६० |
| ८. शोक समाचार  | ६१ |
| ९. आचार्य श्री आनन्दऋषिजी की प्रथम पुण्यतिथि का आयोजन  | ६१ |
| १७ शाकाहारी गाँव पूजा  | ६२ |

वार्षिक शुल्क

चालीस रुपये

एक प्रति

दस रुपये

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक अथवा संस्थान सहमत हों ।

# आत्मोपलब्धि की कला : ध्यान

- महोपाध्याय मुनि चन्द्रप्रभसागर

"कुन्दकुन्द", आत्मवाद के प्रस्तोता हैं। उनके चिन्तन के सारे कपोत, आत्मा के ही आकाश में उड़ते हैं। वे चाहे जिस मार्ग की चर्चा करें, उस मार्ग का मार्गफल तो आत्मा में ही निष्पन्न होगा। इसलिए आत्मा ही उनका आदर्श है और आत्मा ही यथार्थ है।

"आत्मा" एक ऐसा शब्द है जो अपनी सचेतना का, 'सेल्फ कॉन्सियसनेस का पर्याय है। यह, वह ऊर्जा है जो मन, वचन और शरीर/बदन में रहते हुए भी उनसे अलग भी अपना अस्तित्व रखती है। आत्मा का कभी-कभी मन के पर्याय रूप में भी उपयोग किया जाता है। आदम लोग आत्मा को भौतिक वस्तु मानते थे। रक्त और श्वास जैसी चीजें ही आत्मा कहलाती थीं। अब ऐसा नहीं है। यह सही है कि श्वास आत्मा की परिचायक है, पर आत्मा पूर्णतः श्वास नहीं है। वह तो सब श्वासों के श्वास में है। श्वास तो शरीर और आत्मा के संयोग को बनाये रखने की कड़ी है। इसलिए अगर आत्मा अनुभूति है तो श्वास उसकी अभिव्यक्ति।

धर्म में आत्मा को अशरीरी माना जाता है। यह वह शक्ति है, जो भिदती नहीं, इसलिए अभेद्य है, यह मरती भी नहीं, इसलिए यह अमर है। यह जन्म और मृत्यु के बीच ही नहीं, जन्म और मृत्यु के पार भी अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ है। आत्मा, मरणधर्मा नहीं है, मरणधर्मा तो शरीर है। आत्मा तक मृत्यु की पहुँच नहीं है। पर हाँ, मृत्यु उन सबको तो नष्ट ही कर डालती है, जिनसे "आत्मा" अभिव्यक्त होती है।

आत्मा अमर है, अभौतिक शक्ति है, जिसका अस्तित्व शरीर में और शरीर के बाहर भी बना रहता है। यह स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ है। अफ्लातून ने आत्मा को "शाश्वत प्रत्यय" कहा है। प्रत्यय वह है जिसकी प्रतीति हो सके। आत्मा अनुभवगम्य है। आत्म ज्ञान का अर्थ ही आत्मप्रतीति है। आत्मा तक पहुँचने के लिए हमें उन सारे तादात्म्यों से ऊपर उठना होगा जो आत्म-अतिरिक्त हैं। ऊपर उठने का अर्थ स्वयं का किसी से विच्छेद नहीं है वरन अपनी पंखुड़ियों को कीचड़ से लिप्त होने से बचाना है। जैसे नौका सागर में चलती है, सागर से अलग होकर नहीं वरन सागर से ऊपर उठकर चलती है। देहातीत होने का तात्पर्य यही है कि अपने आपको देह से ठीक वैसे ही उठा लें जैसे नौका सागर से ऊपर होती है। नौका साधन है, पार लगाने का। पर तभी, जब नौका सागर से ऊपर हो। जहाँ नौका पर सागर आना शुरु हो गया, वहाँ नौका, नौका न रह पायेगी, पत्थर की शिला हो जायेगी और मैस्रधार में ही डूबना होगा।

शरीर भी साधन है "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"। शरीर धार्मिकता का साधन है। साधन तभी तक सहायक होता है जब तक वह साध्य पर हावी न हो। साधन का साध्य पर चढ़ आना ही पुरुषार्थ का असाध्य रोग है। संसार, सागर है। शरीर नौका है, जीव नाविक है। साधक लोग समझदारी और जागरूकता की पतवारों से पार हो जाते हैं। स्वभाव में जीना ही आत्म-जीवन है। विभाव से स्वभाव में चले आने का नाम ही अध्यात्म-यात्रा है।

आत्मा तो जीवन की आजाद हस्ती है। उसकी अनुभूति नितान्त निजी और व्यक्तिगत होती है। खुफिया भी इतनी कि किसी को कानों-कान खबर भी न हो। इसलिए अध्यात्म की प्रयोगशाला में होने वाले आत्मा के अनुभव आत्यन्तिक गोपनीय रहते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में जो महत्त्व "प्रयोग" का है, अध्यात्म के क्षेत्र में वही अनुभव का है। विज्ञान के प्रयोग ही अनुभव हैं और अध्यात्म के अनुभव ही दूसरे शब्दों में प्रयोग हैं। विज्ञान का मार्ग अध्यात्म प्रयोग से अनुभव की ओर ले जाता है, जबकि अध्यात्म, अनुभव को ही प्रयोग मानता है। इसलिए अगर आप वैज्ञानिक बुद्धि रखते हैं, तो अध्यात्म के मार्ग पर आपकी बुद्धि बाधा बन जायेगी। बात-बात में शक-शुबह होगा। यहाँ प्रत्यक्ष प्रयोग कम, संकेत ही अधिक मिलेंगे। निजत्व की प्रयोगशाला है ही कुछ ऐसी।

अध्यात्म की डगर पर पाँव अंगड़ाई ले, सौभाग्य की बात है। जहाँ से चल रहे हो अच्छी तरह से पहले आश्वस्त हो लो। कहीं ऐसा न हो कि पाँव बढ़ने के बाद प्रस्थान बिन्दु या पदचिह्न याद आये।

संन्यास, आत्मा के प्रति विश्वास है। यह संसार की स्मृति नहीं वरन संसार की विस्मृति है। जिसे संसार की सही समझ पैदा हो गई, वह संन्यास के वातावरण में आकर संसार की याददाशती से नहीं गुजरते। संसार का राग, संसार छोड़ने से नहीं वरन समतापूर्वक आने वाली निर्लिप्तता से छूटता है।

मुक्ति के दो ही सूत्र हैं -- सर्वप्रथम तो यह प्रतीति हो कि जहाँ हम हैं, वहाँ आग धधक रही है और दूसरा यह कि जिस दिशा में हम छलांग मारना चाहते हैं, वहाँ अमृत की रिमझिम-रिमझिम बरसात है। इसलिए दो चीजों की जरूरत है -- आग और सावन का बोध। आगे कदम वही बढ़ायेगा जो अपनी वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट है। अगर हमें लग रहा है कि हमारी शय्या फूलों पर है तो अन्य किसी विकल्प की तलाश हमारा मन स्वीकार ही नहीं करेगा। हम पड़े तो हैं काँटों की शय्या पर। हमने काँटों को फूल समझ लिया है। यही हमारा अज्ञान है। अज्ञान ही परतन्त्रता और तादात्म्य का सेतु है।

सेतु केवल ज्ञान का होता हो, ऐसा नहीं है। अज्ञानता का भी सेतु होता है। ज्ञान का सेतु, उस पार से इस पार लाता है। यह विभाव से स्वभाव की ओर लौटने की यात्रा है।

अज्ञान, ज्ञान का अंधापन है। यह ज्ञान का विपर्यय है। अज्ञान इस किनारे से उस किनारे की ओर जाना है। यह स्वभाव से विभाव की यात्रा है। इस किनारे का अर्थ है --

"ब्रह्मविहार" और उस किनारे का अर्थ है -- "लोकविहार"। हमें इस किनारे का, अपने किनारे का स्वामी होना है। जाना कहीं नहीं है। जहाँ-जहाँ गये हैं मात्र वहाँ से लौटना है।

तीर्थकर होने का तात्पर्य यही है कि उस किनारे से इस किनारे पर पहुँच गया। लोगों ने तो अर्थ लगाया है इस पार से उस पार जाने वाला व्यक्ति तीर्थकर है। उनकी दृष्टि में यह किनारा संसार है और वह किनारा "मुक्ति", जबकि सत्य यह है कि वह किनारा संसार और यह किनारा मुक्ति। इस किनारे से उस किनारे की यात्रा तो अतिक्रमण है। प्रतिक्रमण तो, वापसी की प्रक्रिया है। चित्त का प्रवृत्तियाँ जहाँ-जहाँ हुई हैं, वहाँ-वहाँ से स्वयं का लौट आना, अन्तर्मन्दिर की तीर्थयात्रा है।

आत्मा, हमारी मूल सम्पदा है। वह कहीं और नहीं, कस्तूरी तो कुंडल में ही समायी है। संत कबीर साहब का बड़ा प्रसिद्ध सूक्त है -- "कस्तूरी कुंडल बसै"। हमारी सम्पदा स्वयं हमारे पास है, मूढ़ पुरुष संसार के रेगिस्तान में महक का मारा, दर-दर भटक रहा है। सब कुछ विक्षिप्त और लहलुहान हुआ चला जा रहा है। इसलिए आत्मा की खोज किसी चीज को तलाशना नहीं है, यह तो स्वयं का स्वयं में होना है।

सुख और आनन्द का मूल स्रोत तो अन्तर्जगत् की ही जमनोत्री में है। बाहर के जगत् में सुख के कोरे संवाद मिल सकेंगे, मगर यह मत भूलो कि जिनसे हम सुख के संवाद कर रहे हैं, वे पहले से ही दुःखी हैं। हम अपना दुःख हल्का करने के लिये पड़ोसी के घर जा रहे हैं जबकि पड़ोसी खुद पहले से ही परेशान हैं। यों दुःख हल्का नहीं होता बल्कि सान्त्वना के नाम पर दुःख का विनिमय होता है। हम अपना दुखड़ा रो रहे हैं और पड़ोसी अपना दुखड़ा। हम किसी से तसल्ली पाने के बजाय उस कारण को ढूँढ़ने का प्रयास करें जिससे दुःख पैदा होता है, उस स्थान को तलाशने की चेष्टा करें जहाँ दुःख के काँटे लगे हैं। हमारा मन ही तो वह स्थान है, कषाय और राग-वैमनस्य ही तो वे कारण हैं, जिनसे तनाव, घुटन और वैचारिक प्रतिस्पर्धा है।

दुःख से ऊपर उठने का पहला मार्ग हाँ है कि दुःख को भूल जाओ। रोग है तो शरीर को भूल जाओ, तनाव है तो विचारों से ऊपर उठ जाओ, नींद में भी विक्षिप्तता है तो मन से मुक्त हो जाओ। संगीत सुनो, शरीर से विचारों में चले जाओगे। ध्यान करो, विचारों से मन में चले जाओगे। शून्य शांत हो जाओ, मन के भी पार हो जाओगे। आत्मा, मन-वचन और शरीर का अगला चरण है। परमात्मा, आत्मा की ही प्रकाशमान चैतन्य दशा है।

कुंदकुंद, जीवन के इस अनूठे विज्ञान से गहरे परिचित थे। आज के सूत्र में वे परमात्मा के ध्यान का प्रतिपादन करेंगे। परमात्मा का ध्यान करने की प्रेरणा देंगे, किन्तु उन्होंने अपने सूत्र में कुछ ऐसे सूत्रों का प्रयोग किया है जिन्हें मैं परमात्म ध्यान की भूमिका कहूँगा। अगर अब तक परम सत्य से साक्षात्कार नहीं हुआ तो इसका अर्थ यह नहीं कि परम सत्य बीत गया है। तुमने सीधी छलांग भरनी चाही जबकि साधना तो इंच-दर-इंच, कदम-दर-कदम बढ़ना है। यह रास्ता इतना फिसलन भरा है कि पाँव जमने कठिन लगते हैं। अपने विवेक के पाँवों को मजबूत

करो। आंखें खुली हों -- सामने की ओर। जैसे ही पीछे झांका, चूक जाओगे, अतीत की याद और अतीत के सपने साधना के मार्ग पर सबसे बड़ी फिसलन है।

कुंदकुंद, आत्म द्रष्टा हैं। अतीत वे भी जी चुके हैं, पर भविष्य में अतीत की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते। वे वर्तमान अनुपश्यी हैं। उनकी अनुप्रेया, वर्तमान से जुड़ी है। वे वर्तमान को इतना उज्ज्वल बना लेना चाहते हैं कि भविष्य की ऊंची संभावनाएँ, वर्तमान में ही साकार हो जायें। बाहर से हटो अन्तर में लौटो और "परमात्मस्वरूप में तल्लीन हो जाओ", यही कुंदकुंद का अध्यात्म है।

उनका सूत्र है --

*तिपयारो सो अप्या, परमंतर बाहिरो हु देहीणं।  
तथ परो झाइज्जइ, अंतोवाएण चइवि बहिरप्या ॥*

"आत्मा तीन प्रकार की है -- अंतरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा।

अन्तरात्मा के उपाय द्वारा बहिरात्मपन को छोड़कर परमात्मा का ध्यान करना चाहिये।

आत्मा के तीन रूप हैं -- बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो बाहर है वह बहिरात्मा है। जो अन्दर है वह अन्तरात्मा है। परमात्मा, बाहर और भीतर के द्वैत से मुक्ति है।

बहिरात्मा संसारी है। अन्तरात्मा संन्यासी है। परमात्मा संबुद्ध है। बहिरात्मा के फूल बिखरे हैं, अन्तरात्मा ने पिरो रखे हैं। परमात्मा फूलों का इत्र है।

परपदार्थ में सत्त्व को नियोजित करने वाला बहिरात्मा है। स्वयं की ओर लौटना अन्तरात्मा है। परमात्मा, कैवल्य स्वरूप में स्थितप्रज्ञ होना है।

जो मूर्च्छित है, वह बहिरात्मा है। जाग्रत पुरुष अन्तरात्मा है। परमात्मा स्वयं की परास्थिति है। जो स्वयं को पूछता है कि मैं कौन हूँ, अन्तरात्मा वही है। अन्तरात्मा, वस्तुतत्त्व का ज्ञाता है, निजत्व का साक्षी है, जिसे स्वयं से कुछ पड़ी ही नहीं है। प्रतिबिम्ब को ही बिम्ब मान रखा है, वही बहिरात्मा है। परमात्मा तो स्वयं की समग्रता का स्वयं में अधिष्ठान है।

कुंदकुंद कहते हैं कि अन्तरात्मा के उपायों द्वारा बहिरात्मपन को छोड़ो। पता है, बहिरात्मपन का सम्बन्ध किससे है ? किससे छोड़ोगे इसे ? मन, वचन और काया से बहिरात्मपन को छोड़ो और अन्तरात्मा में आरोहण करो। परमात्मा का ध्यान तभी सध पायेगा। परमात्मा का ध्यान तो अंतिम चरण है। बहिरात्मपन को छोड़ना पहली शर्त है और अन्तरात्मा में आरोहण करना दूसरी शर्त। बाहर के रास भी रचाते रहो और आत्मजगत् का कार्य भी साधना चाहो तो कैसे संभव होगा ? एक पंथ दो काज वाली उक्तियाँ जीवन-विज्ञान में लागू नहीं होती। यहाँ तो एक पंथ और एक काज होता है। दोनों में रस लोगे, तो न इधर के रहोगे न उधर के। अजीब खिचड़ी बन जायेगी।

हम अब तक ऐसा ही तो करते चले आये हैं। कुछ देर धर्म कर लेते हैं और कुछ देर बेईमानी। मन्दिर में तो जाकर परमात्मा की पूजा करते हैं और बाजार में आकर मिलावटखोरी। जिस दिन बाजार भी तुम्हारे लिए मन्दिर हो जायेगा परमात्मा का ध्यान उसी समय अपनी सार्थकताओं को छू देगा।

कुंदकुंद के साधना की प्रक्रिया में बहिरात्मपन पहली बाधा है। मन, वचन और काया का सम्मोहन ही बहिरात्मपन की आधारशिला है। शरीर स्थूल है। विचार, सूक्ष्म शरीर है। मन, विचारों का कोषागार है।

शरीर तो हमें दिखाई पड़ता है पर शरीर के पर्दे के पीछे विचारों की सघन पर्तें हैं। मन की परत शरीर और विचार की पर्तों से अधिक सूक्ष्म है। मन ही तो वह मंत्रणा-कक्ष है जहाँ से विचार, शरीर और संसार की सारी तादात्म्य भरी गतिविधियाँ संचालित होती हैं।

इसलिए पहली परत है -- "शरीर"। देहातीत होने का अर्थ वही है कि शरीर के प्रति स्वयं का सम्बन्ध शिथिल कर दो। जो व्यक्ति शरीर के प्रति जितना अधिक आसक्त है, शारीरिक पीड़ाएँ उसे उतनी ही व्यथित करती हैं। भले ही घाव हो, बुखार हो या और कोई वेदना हो यदि देहातीत होकर जीते हो तो तुम रोग को जीत जाओगे। हमारे शरीर में कोई फोड़ा हो, फिर भी अगर हम मुस्कराते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि देह से अलग होने की शक्ति हममें आ गई है। देह भाव को कम करो, तो देह से अलग होना आसान है। योगासनों का महत्त्व देह भाव से ऊपर उठने के लिये ही है।

योग में श्वास-पथ के जरिये देह से विचारों में प्रवेश किया जाता है। प्राणायाम, देह से परास्थिति है। विचार, शरीर से गहरी परत है। विचारों की, संस्कारों की, धारणाओं की कितनी गहरी परतें जमीं हैं हमारे भीतर। विचारों की यात्रा अनथक चालू रहती है। दिन हो या रात विचार हमें चौबीस घंटे घेरे रहते हैं। खाओ, पियो, उठो, सोओ, कुछ भी करो, विचारों की परिधि तो हर समय अपना घेरा बांधे रखती है। विचारों की उच्छृंखलता समाप्त करने के लिये ही तो नाम-स्मरण और मंत्र-जाप का मूल्य है।

क्या हमने कभी ध्यान दिया कि हम विचारों और शब्दों में कितना जीते हैं। शब्द न भी उच्चारण तब भी चुप कहीं हो। जो चेहरा तुम्हें शांत दिखायी देता है, क्या कभी ज्ञात किया कि उसका मन कितना बड़बड़ा रहा है। विचार तो शांत है नहीं और जाकर बैठे हिमालय में, संस्कार हैं संसार के और आसन है गुफा में, यह कैसा विरोधाभास ? गुफा में जाकर बैठने मात्र से मन की चंचलता बन्द होगी। विचारों को पढ़ने और समझने से विचारों के प्रति आसक्ति टूटेगी। इसलिए कभी अकेले में बैठकर अपने विचारों को ठीक वैसे ही पढ़ने की कोशिश करना, जैसे किसी दूसरे का चरित्र पढ़ा जाता है।

शरीर और विचार की अगली सतह है -- "मन"। मन वह है जो अभी तक विचार नहीं बना है। मन, बीज है। विचार, बीज का अंकुरण है। शरीर की गतिविधियाँ तो उसी बीज की फसल हैं।

तादात्म्य है, इसीलिए तो शरीर को भूख लगने पर कहा जाता है कि मुझे भूख लगी है। उल्टेजना पैदा होती है विचारों में जब कि तुम कहते हो -- "मैं उल्टेजित हूँ।" सम्मोहित हुआ है -- "मन" पर तुम कहते हो कि मैं फिदा हूँ। जो यह समझता है कि मैं मात्र विशुद्ध अस्तित्व हूँ। मन, वचन और शरीर के साथ मेरा मात्र सांयोगिक सम्बन्ध है। उनकी भाषा सिर्फ इतनी ही होगी -- "भूख लगी है।" "मैं उल्टेजित हूँ", ऐसा नहीं मात्र इतना ही कहेगा -- "उल्टेजना है"। जहाँ मैं को जोड़ा वहीं चूक गये। मन से अलग होना कठिन इसलिये है क्योंकि यह हम पहचानते ही नहीं कि हम मन से अलग हैं। हम मन हैं, ऐसा मानना ही तो मन की गुलामी है। मन में चाहे अच्छा आये और बुरा उसका जिम्मा हम पर नहीं है। हम पर केस तो तब चलेगा जब हमारी कृति मन के मुताबिक होगी, जो यह मानता है कि मैं मन नहीं हूँ, मन की बुराइयों का उससे कोई ताल्लुकान्त नहीं।

चूँकि मन में विकार है, इसलिए वह झंझर-उधर डोलता है, नींद हो, तब भी वह जोर पकड़ता है। विवेक ही वह मीडिया है, जो मन को रोकता है। अपने विवेक को होश में लाओ और विवेक से उसे अपने से अलग पहचानो। मन के अनुकूल होना भी ठीक नहीं है और हठात् उसके खिलाफ जाना भी उचित नहीं है। मार्ग तो "तटस्थता" है। तटस्थ होकर देखो, उसे पहचानो।

मन से मुक्त होने के लिए हम इसकी स्थिति को समझें। फ्रॉयड ने मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओं पर लम्बा-चौड़ा विज्ञान उपस्थित किया है। वास्तव में मन की भी तीन परतें हैं -- अचेतन, अवचेतन और चेतन। अचेतन मन, गहरी नींव है। यही तो मनुष्य के जीवन का भाग्य निर्धारित करता है। आक्रामकता की सहज वृत्ति, अचेतन मन के कारण ही निष्पन्न होती है। हमारे समस्त संवेग और अनुभवों का मर्म, यही अचेतन मन है।

अवचेतन मन चेतन और अचेतन दोनों के बीच का विशेष प्रदेश है। यह सीमावर्ती प्रदेश है। अवचेतन क्षेत्र में ही तो अचेतन वासनायें घुस आती हैं और नतीजतन सामाजिक जीवन में अवरोधक काँट-छाँट का सामना करना पड़ता है। चेतना, जगत के साथ सम्पर्क-बिन्दु पर मन की सतही अभिव्यक्ति है।

मन, शरीर की सूक्ष्म संहिता है। आत्मा शरीर के हर स्वरूप के पार की स्थिति है। मन से मुक्त होने के लिये या तो मन और विचार को बदल डालो या फिर उन्हें भूल जाओ। मानसिक चंचलताओं को लंगड़ी मारने के लिये मंत्रों का उच्चारण करो। गहन उच्चारण से मंत्र की लय और छंद में बद्ध होकर विचार सो जाते हैं। जब विचारों से निःस्तब्ध बनोगे तभी पहली बार जानोगे कि मन के साथ कैसा तादात्म्य था। विचारों की तरंगें अब कितनी शांत हैं। मंत्र, मन तक ले जायेंगे। आत्मा तो मन के भी पार है।

ध्यान ही वह राजमार्ग है, जो हमें बहिरात्मपन से ऊपर उठाएगा, अन्तरात्मा में अधिष्ठित करेगा और परमात्मा के स्वरूप को साधेगा। ध्यान, हमें उस शून्य तक ले जाता है जहाँ न केवल देहातीत वरन मनोमुक्त दशा होगी। ध्यान योगों का योग है। मंत्रों का मंत्र है। यह रास्तों



का रास्ता है और समाधानों का समाधान है। ध्यान परम आधार है आत्मा तक पहुँचने के लिये। अध्यात्म के सारे मार्ग ध्यान में आकर विसर्जित हो जाते हैं। ध्यान परमात्मा का सागर है, इसकी एक बूँद भी आत्मक्रांति को घटित कर जायेगी। अपना ध्यान अपने श्वास-पथ पर आरुढ़ करो और भीतर की गहराइयों में उतर पड़ो। ध्यान में वैसी घड़ी आती है जहाँ हम सारी चंचलताओं को पूरी तरह से शांत पाते हैं। वहाँ निस्तरंग होती है "झील"।

जीवन का यह क्षण अन्तर-प्रसन्नता का महोत्सव है। वहाँ मौन बरसता है, शांति लहराती है, आनन्द जगमगाता है। तब की अनुभूति प्यार ही प्यार से छलाछल होती है। अहिंसा और करुणा इतनी जीवंत हो उठती है कि उसकी छलकाहट भी औरों के लिये सत्संग बन जाती है।

एक बात निश्चित है कि जीवन की यह अनूठी यात्रा अन्दर ही अन्दर होती है, आखिर मोक्ष है भी तो अन्दर ही। ऐसा नहीं कि नरक के ऊपर पृथ्वी ग्रह, इससे ऊपर स्वर्ग और स्वर्ग के ऊपर मोक्ष, जैसा कि मानचित्रों में दिखाया जाता है। भला, मोक्ष का भी कभी कोई नक्शा होता है। स्वर्ग, नरक और मोक्ष सब हमारे ही भीतर हैं। बुरा मन "नरक" है और अच्छा मन "स्वर्ग"। मोक्ष, मन से मुक्ति है, विचारों का निर्वाण है। ध्यान, मार्ग है जो हमें मोक्ष तक ले जायेगा। जीतेजी मोक्ष और "महाशून्य" की अनुभूति करा देना ही ध्यान का सफल प्रयोग है। अन्तर्जीवन की प्रयोगशाला में प्रयोगों को व्यावहारिक रूप दें, चैतन्य की दशा को उजागर करें, यही कामना है।

# आचार्य हरिभद्र और उनका योग

- डॉ. कमल जैन

आचार्य हरिभद्र एक ऐसी जीवन-दृष्टि को लेकर उदित हुये जो अनुपम और अद्भुत थी। वे प्रथम मनीषी थे जिन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा द्वारा जैन योग को विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने परम्परा से चली आ रही प्राचीन शैली को परिस्थिति एवं लोकरुचि के अनुरूप नया मोड़ दे करके, अभिनव परिभाषा करके जैन योग साहित्य के अभिनव युग का प्रारम्भ किया। उन्होंने जैन योग पर अनेक मौलिक ग्रन्थों की रचना की। योग सम्बन्धी अवधारणाओं को नई दिशा दी। भिन्न सम्प्रदायों की संकीर्णता को दूर करने का प्रयत्न किया और समन्वित साधना पद्धति को फल्लवित किया और तदनुसृत संयम व सदाचार गर्भित जीवन चर्या की प्रतिष्ठापना की।

आध्यात्मिक साधना का प्रथम लक्ष्य शारीरिक शक्तियों को ऊर्ध्वगामी बनाकर मोक्ष प्राप्ति की दिशा में नियोजित करना है। योग से ही इन सुप्त शक्तियों को जागृत किया जा सकता है।

## योग की परिभाषा

मोक्ष प्राप्ति के मुख्य और गौण, अन्तरंग या बहिरंग, ज्ञानपरक या आचारपरक, जितने आध्यात्मिक विकास के साधन हैं, उनका यथाविधि अनुष्ठान करना और आध्यात्मिक विकास की पूर्णता को प्राप्त करना ही योग है।

चितवृत्ति का निरोध<sup>१</sup>, पुण्यात्मक प्रवृत्ति मोक्ष से योजन इत्यादि योग के लक्षण भिन्न-भिन्न परम्पराओं में कहे गये हैं।<sup>२</sup> योगियों ने सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र्य इन तीनों के आत्मा के साथ सम्बन्ध को योग कहा है।<sup>३</sup> आचार्य हरिभद्र ने योग को मोक्ष का हेतु कहा है और उन सभी साधनों को योग कहा है, जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्ममल का नाश होता है और आत्मा का मोक्ष के साथ संयोग होता है।<sup>४</sup> आचार्य के विचार में धार्मिक क्रियाकलाप, आध्यात्मिक भावना, समता का विकास, मनोविकारों का क्षय, मन, वचन, कार्य को संयमित करने वाले धार्मिक क्रियाकलाप ही श्रेष्ठ योग हैं,<sup>५</sup> उन्होंने अपने योग विषयक सभी ग्रन्थों में आत्मा की विशुद्धि के सभी साधनों को योग कहा है।

उपाध्याय अमरमुनि जी ने आत्मा की अनन्तशक्ति को अनावृत करने, आत्म-ज्योति को आलोकित करने तथा अपने लक्ष्य एवं साध्य तक पहुँचने के लिये मन, वचन, कर्म में एकरूपता, एकाग्रता, तन्मयता एवं स्थिरता लाने वाली साधना को योग कहा है।<sup>६</sup> आचार्य हरिभद्र ने योग की ३ अवस्थाओं का उल्लेख किया है<sup>७</sup>--

1. इच्छा योग -- आत्मलब्धि के लिये जिसने शास्त्रीय सिद्धान्तों का श्रवण किया है लेकिन प्रमाद के कारण विकल असम्पूर्ण धर्म योग रहता है। इस अवस्था में योगी में योग साधना में आगे बढ़ने की आन्तरिक भावना तो उत्पन्न हो जाती है परन्तु प्रमाद के कारण वह कुछ कर नहीं पाता।
2. शास्त्र योग -- इसमें शास्त्रवेत्ता साधक ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्रात्चार, तपाचार तथा वीर्याचार का शास्त्रीय विधि से पालन करने लगता है।
3. सामर्थ्ययोग -- साधक आत्मशक्ति के विशिष्ट विकास के कारण धर्म और शास्त्र के विधि निषेधों का अतिक्रमण कर आत्मकेन्द्रित हो जाता है, जो उसके मोक्ष का साक्षात् कारण बन जाता है।

आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि जिसने अभी धर्म का सच्चा मर्म न जाना हो केवल अभिमुख ही हुआ हो, उसे लोक और समाज के बीच रह कर आचरण करने योग्य धर्म का उपदेश देना चाहिये, जिससे वह लौकिक धर्म का पालन करता हुआ योग मार्ग का अनुसरण कर सके। उसे गुरु, देव, अतिथि आदि की सेवा तथा दीन जनों को दान देने की प्रेरणा देनी चाहिये।<sup>c</sup> उसे सदाचार का पालन, शास्त्रों का पाठ, गुरु से शास्त्र-श्रवण, पवित्र तीर्थस्थानों का पर्यटन आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्त होकर आत्म-निरीक्षण करना चाहिये।<sup>d</sup> अशुभ कर्मों के निवारण के लिये आन्तरिक भय होने पर सद्गुरु की शरण लेनी चाहिये, कर्म रोग के उपचार के लिये तप का अनुष्ठान करना चाहिये, मोह रूपी विष को दूर करने के लिये स्वाध्याय का आश्रय लेना चाहिये।<sup>e</sup> आचार्य हरिभद्र ने अर्हतों को शुभ भाव से नमन, सत्पुरुषों की सेवा, संसार के प्रति वैराग्य, सत्पात्र को निर्दोष आहार, उपकरण, औषधि आदि का सब शास्त्रों का लेखन, पूजन, प्रकाशन, शास्त्र-श्रवण, विधिपूर्वक शुभ उपधान क्रिया इन सबको योग बीज कहा है।<sup>f</sup>

## योगियों के प्रकार

आचार्य ने 4 प्रकार के योगी बताये हैं --

1. कुल योगी -- जो योगियों के कुल में जन्में हों और प्रकृति से ही योगधर्मी हों, ब्राह्मण, देव, गुरु का सम्मान करते हों, किसी से द्वेष न रखने वाले, दयालु, विनम्र, प्रबुद्ध तथा जितेन्द्रिय हों।<sup>g</sup>
2. गोत्रयोगी<sup>h</sup> -- साधक के गोत्र में जन्म लेने वाले योगी को गोत्र योगी कहा जाता है। यम-नियम आदि का पालन न करने के कारण उनकी प्रवृत्ति संसाराभिमुख होती है। अतः वे योग के अधिकारी नहीं माने जाते।
3. प्रवृत्तघक्रयोगी -- ऐसा योगी अपनी मोक्षाभिलाषा का बढ़ाने वाला, सेवा-सुश्रूषा, श्रवण, धारण, विज्ञान, ईहा, उपोह, तत्त्वाभिनिवेश आदि गुणों से युक्त होकर यत्न-पूर्वक प्रवृत्ति करने वाला होता है।<sup>i</sup>

4. निष्पन्न योगी -- जिसकी मोक्ष साधना निष्पन्न हो चुकी है वह निष्पन्न योगी है। ऐसा योगी सिद्धि के अति निकट होता है। उसकी प्रवृत्ति सहज रूप में ही धर्ममय हो जाती है।<sup>१५</sup>

## योग के अधिकारी

जीवन के अनादि प्रवाह में विविध कारणों से कर्ममल क्षीण होते रहते हैं और एक ऐसा समय आता है जब जीवन की वृत्ति भोगाभिमुख न होकर योगाभिमुख होने लगती है, राग-द्वेष की तीव्रता भी मंद हो जाती है। वह नये कर्मसंस्कारों का निर्माण करे तो भी उसके संसार में दीर्घकाल तक रहने की संभावना नहीं होती ऐसे काल को जैन परिभाषा में चरमावर्त कहा गया है।<sup>१६</sup> आचार्य ने योग के अधिकारियों की चर्चा करते हुये कहा है कि जो साधक 'अचरमावर्त' में रहता है, विषय वासना और कामभोगों में आसक्त बना रहता है, वह साधक योग मार्ग का अधिकारी नहीं हो सकता। कुछ लोग तो केवल लोक व्यवहार के कारण ही इसकी साधना करते हैं, आचार्य ने ऐसे लोगों को भवाभिनन्दी कहा है। ये लोग योग के लिये अनाधिकारी माने जाते हैं।<sup>१७</sup> भवाभिनन्दी जीव दुःखमय संसार में करणीय, अकरणीय को भूल कर हिंसा, परिग्रह, भोग आदि अकृत्यों में प्रवृत्त रहते हैं उसी में सुख मानते हैं, जो जीव चरमावर्त में रहता है, जिसने मिथ्यात्व ग्रन्थि का भेदन कर लिया है, जो शुक्ल पक्षी है, वही मोक्ष साधना का अधिकारी है, ऐसा साधक शीघ्र ही अपनी साधना से भवभ्रमण का अंत कर देता है, सात्विक मन, सद्बुद्धि, सम्यग्ज्ञान की उत्तरोत्तर विकासोन्मुखता के कारण वह मुक्ति परायण होता है।<sup>१८</sup> जैनत्व जाति से, अनुवंश से अथवा किसी प्रवृत्ति-विशेष से नहीं माना गया है, परन्तु यह आध्यात्मिकता की भूमिका के ऊपर निर्भर करता है। प्रथम सोपान में दृष्टि मोक्षाभिमुख होती है जिसका पारिभाषिक नाम अपुनर्बन्धक है, मोक्ष के प्रति सहज श्रद्धा और यथाशक्ति दूसरा सोपान है। जब श्रद्धा आंशिक रूप से जीवन में उतरती है तो देशविरति तीसरा सोपान होता है, जब सम्पूर्ण चारित्र की कला विकसित होती है, तो चौथा सोपान सर्वविरति होता है। हरिभद्र ने योगबिन्दु में योग के अधिकारियों को चार भागों में विभक्त किया है<sup>२०</sup> :

1. अपुनर्बन्धक -- ऐसा साधक जो मिथ्यात्व दशा में रहता हुआ भी सद्गुणों की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहता है, जिसमें मोक्ष के प्रति श्रद्धा और रुचि पैदा हो जाती है और राग-द्वेष एवं कषायों का तीव्र बल, घट जाता है, फिर भी वह आत्म-अनात्म (जड़-चेतन) का विभेद सम्यक् प्रकार से नहीं कर पाता है।<sup>२१</sup> आचार्य कहते हैं कि -- ऐसे व्यक्ति को लोक-कल्याण का उपदेश देना चाहिये जैसे दूसरे के दुःख दूर करना, देव, गुरु तथा अतिथि की पूजा करना, दीन-दुखियों को दान आदि।

2. सम्यग्दृष्टि -- सांसारिक प्रपंचों में रहता हुआ भी, जो मोक्षाभिमुख होता है, जिसमें श्रद्धा-रुचि और समझ आंशिक रूप में आ जाती है धार्मिक तत्त्व सुनने की इच्छा, धर्म के प्रति अनुराग, आत्म-समाधि (आत्म-शांति), देव तथा गुरु की नियमपूर्वक सेवा करने की इच्छा जिसमें उत्पन्न हो जाती है,<sup>२३</sup> ऐसे साधक को विशुद्ध आज्ञा योग के आधार पर अणुव्रत आदि को लक्ष्य में रखकर उपदेश देना चाहिये।<sup>२४</sup>

3. देशविरति -- अणुव्रतों का पालन करता हुआ साधक मोक्ष मार्ग की ओर बढ़ता है। सम्पूर्ण चारित्र की इच्छा विकसित होती है। ऐसा साधक सन्मार्ग का अनुसरण करने वाला, श्रद्धावान, धर्मोपदेश के योग्य, धर्म क्रिया में अनुरक्त, यथाशक्ति अध्यात्म साधना में लीन तथा वीतराग दशा प्राप्त होने तक समत्व की साधना करने वाला होता है।<sup>२५</sup> ऐसे साधक को परमार्थलक्षी और सूक्ष्म उपदेश देना चाहिये।<sup>२६</sup>

4. सर्वविरति -- सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने से अनुकम्पा, निर्वेद, प्रशम, अनुभाव आदि गुण उसे स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं।<sup>२७</sup> अब वह सब पापों का पूर्णरूप से त्याग करता है।

इन चारों अधिकारियों को उनके सामर्थ्य के अनुसार उपदेश देना चाहिये। अपुनर्बन्धक को लोक-धर्म का अर्थात् सदाचरण आदि का, सम्यग्दृष्टि को अणुव्रत आदि के पालन का, देशविरति को संयम और महाव्रतों के पालन का और सर्वविरति को परमार्थ लक्षी आध्यात्मिक उपदेश देना चाहिये।<sup>२८</sup>

आचार्य हरिभद्र ने योग का एक भेद शास्त्रयोग और निशस्त्रयोग भी किया है। शास्त्रयोग उस योगी का साधना है, जिसके मोक्ष तक पहुँचने में अनेक जन्म रहते हों। निशस्त्रयोग उस साधक को सधता है, जिसे केवल उसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करना होता है।<sup>२९</sup>

### योगदृष्टियाँ

योग साधना के क्षेत्र में आध्यात्मिक विकास की अवस्थाओं को आचार्य हरिभद्र ने आठ दृष्टियों के रूप में भी प्रस्तुत किया है। आचार्य ने श्रद्धा का बोध कराने वाली तथा असत् प्रवृत्तियों को क्षीण करके सत् प्रवृत्तियों की स्थापना करने वाली साधना को ही दृष्टि कहा है। सामान्य दृष्टि से ऊपर उठकर साधक इन योग दृष्टियों तक पहुँचता है।

1. मित्रादृष्टि<sup>३०</sup>-- आत्माभ्युदय की पहली अवस्था है, इसमें साधक के हृदय में प्राणी मात्र के लिये मैत्री भाव बढ़ने लगता है। इसमें सम्यग्दर्शन होने पर भी श्रद्धोन्मुख आत्मबोध की मन्दता होती है, अहिंसादि यमों को पालन करने की इच्छा और धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति अखेदता होती है वह धार्मिक क्रियाओं को प्रथा के रूप में करता तो है, परन्तु उसकी दृष्टि पूर्णतया सम्यक् नहीं हो पाती है, परन्तु अन्तर्जागरण और गुणात्मक प्रगति की यात्रा शुरू हो जाती है।<sup>३१</sup> साधक सर्वज्ञ को अन्तःकरण से नमस्कार करता है। आचार्य एवं तपस्वी की यथोचित सेवा करता है, औषधदान, शास्त्रदान, जिन-पूजा, जिनवाणी के श्रवण, पठन, स्वाध्याय आदि में प्रवृत्त रहता है। इसकी तुलना 'अष्टांगयोग' के प्रथम अंग 'यम' से की गई है।<sup>३२</sup>

2. तारा दृष्टि -- इसमें मित्रादृष्टि की अपेक्षा बोध कुछ अधिक स्पष्ट होता है। साधक योगनिष्ठ साधकों की सेवा करता है, इस सेवा से उसे योगियों का अनुग्रह प्राप्त होता है। योग साधना और श्रद्धा का विकास होता है, आत्महित बुद्धि का उदय होता है। चैतसिक उद्रेग भिद जाते हैं। शिष्ट जनों से मान्यता प्राप्त होती है।<sup>३३</sup> इससे अष्टांग योग का दूसरा अंग 'नियम' सधता है अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा परमात्मचिन्तन जीवन में फलित होते हैं।<sup>३४</sup>

3. बला दृष्टि -- इस दृष्टि में योगी सुखासन से युक्त होकर सुदृढ़ आत्म दर्शन को प्राप्त करता है। उसे तत्त्व ज्ञान के प्रति रुचि उत्पन्न होती है तथा योग साधना में किसी प्रकार का उद्वेग नहीं होता। इसमें तृष्णा का अभाव हो जाने से साधक उल्लासमय स्थिति को प्राप्त कर लेता है।<sup>34</sup> इस दृष्टि में अष्टांग योग का तीसरा अंग आसन सधता है।<sup>35</sup> आगमों से ज्ञात होता है कि महावीर आसन योग के बिना काय योग में स्थिरता नहीं मानते थे। वह चंचलता से रहित होकर अनेक प्रकार के आसन में स्थिर होकर ध्यान करते थे।

4. दीप्रा दृष्टि -- इसमें अन्तर्हृदय में प्रशान्त रस का सहज प्रवाह बढ़ता रहता है। तत्त्व-श्रवण सधता है, आत्मोन्मुखता का भाव उदित होता है। वह द्रव्य प्राणायाम रेचक, पूरक, कुम्भक तक ही सीमित नहीं रहता किन्तु भाव प्राणायाम की भी साधना करता है। इसमें बाह्य-भावों (विभावदशा) का रेचन किया जाता है। अन्तरात्म-भावों का पूरक किया जाता है और चिन्तन, मनन उस आत्मभाव को स्थिर (कुम्भक) किया जाता है। आत्म विकास में इस भाव प्राणायाम का बड़ा महत्त्व है। इस दृष्टि में साधक आत्म विकास की इस भूमिका पर पहुँच जाता है कि वह धर्म को प्राणों से भी अधिक महत्त्व देने लगता है, प्राण- संकट आ जाने पर भी धर्म को नहीं छोड़ता<sup>36</sup> इसमें 'प्राणायाम' सिद्ध होता है।<sup>37</sup>

उपर्युक्त चार दृष्टियों में 'मिथ्यात्व' की आंशिक सत्ता बनी रहती है। इन दृष्टियों में धार्मिक व्रत-नियमों का पालन तो होता है, किन्तु आन्तरिक विशुद्धि अल्प होती है। यदि तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति हो भी जाये, तो भी वह स्पष्ट नहीं होती है।

5. स्थिरादृष्टि -- इसमें साधक को सूक्ष्म-बोध प्राप्त होता है। उसके लिये समस्त पदार्थ मात्र ज्ञेय होते हैं। संसार की क्षणभंगुरता एवं अस्थिरता का ज्ञान हो जाने के कारण वह उनमें आसक्त नहीं होता। इन्द्रियाँ संयमित हो जाती हैं। धर्म-क्रियाओं में आने वाली बाधाओं का परिहार हो जाता है और साधक परमात्म स्वरूप को पहचानने लगता है। इस दृष्टि में स्थित साधक के मिथ्यात्व-ग्रन्थि का भेदन हो जाता है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। वह आत्मा को ही अजर-अमर और उपादेय मानता है।<sup>38</sup> इस दृष्टि में योग का पाँचवाँ अंग प्रत्याहार सधता है।<sup>40</sup>

6. कान्तादृष्टि -- इसमें साधक को अविच्छिन्न सम्यग्ज्ञान रहता है, सांसारिक कार्य करते हुये भी उसका मन आत्मा में ही लगा रहता है, वह सांसारिक भोगोपभोगों को अनासक्त भाव से भोगता है उसके राग-द्वेष अत्यल्प होते हैं, चित्तवृत्तियाँ बहुत कुछ उपशांत हो जाती हैं,<sup>41</sup> इसमें योगी को अष्टांग योग का छठा अंग 'धारणा' सधता है। धारणा निष्ठ हो जाने पर वह आत्मतत्त्व के अतिरिक्त अन्य विषयों में रस नहीं लेता।<sup>42</sup>

7. प्रभादृष्टि<sup>43</sup> -- इसमें संस्थित योगी ध्यान प्रिय होता है। इसमें सूर्य के प्रकाश की तरह अत्यन्त सुस्पष्ट तत्त्वानुभूति या आत्मानुभूति होती है। इसमें राग-द्वेष, मोह बाधा नहीं देते। सहज रूप से ही सत्प्रवृत्ति की ओर उसका झुकाव हो जाता है। प्रशान्त भाव की प्रधानता हो जाती है। काम के साधनों को जीत लेता है। इसमें योग का सातवाँ अंग ध्यान सधता है।<sup>44</sup>

8. परा दृष्टि -- यह दृष्टि समाधिनिष्ठ, आसक्ति दोषों से रहित और जागरूक चित्त वाली होती है। इसमें चित्त में प्रवृत्ति करने की कोई वासना नहीं रहती है। इसमें परमतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है और साधक आत्मभाव से रमण करता है। इस दृष्टि में साधना अतिचारों (दोषों) से निर्दोष होती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तरायकर्म क्षीण हो जाते हैं। आत्मा सर्वज्ञ परमात्मा बन जाती है।<sup>४५</sup> इसमें अष्टांग योग का आठवाँ अंग समाधि सध जाता है।<sup>४६</sup> इस प्रकार आध्यात्मिक योग साधना के द्वारा साधक शनैः-शनैः आत्मोत्क्रांति करता हुआ मोक्ष एवं निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है। पातंजल योग वर्णित समस्त अष्टांग योग इन आठ योग दृष्टियों में समाहित हो जाता है। इन दृष्टियों में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य का सार निहित है।

धर्मशास्त्रों में बताई गई विधि के अनुसार गुरुजनों की सेवा करना, उनसे तत्त्वज्ञान सुनने की उत्कंठा, क्षमतानुसार विधि-निषेधों का पालन करना व्यवहार योग है।<sup>४७</sup> जैन परम्परा में आध्यात्मिक विकास की सूचक 14 भूमिकायें गुणस्थान के नाम से जानी जाती हैं। आचार्य हरिभद्र ने इन आध्यात्मिक विकास की 14 भूमिकाओं को निम्न पाँच योग भूमिकाओं में समाहित किया है :

### योग की पाँच भूमिकायें --

१. अध्यात्मयोग -- जैन परम्परा में मोक्षाभिलाषी आत्मा को अध्यात्म-योग से युक्त होने की प्रेरणा दी गई है, क्योंकि चारित्र्य की शुद्धि के लिये अध्यात्म योग का अनुष्ठान मुमुक्षु, आत्मा के लिये विशेष महत्त्व रखता है। इसमें साधक अपने सामर्थ्य के अनुसार अणुव्रतों और महाव्रतों को स्वीकार करके प्रमोद, मैत्री, करुणा, माध्यस्थ्य आदि चार भावनाओं का चिन्तन-मनन करता है।<sup>४८</sup>

२. भावना योग -- प्राप्त हुये अध्यात्म तत्त्व को निष्ठापूर्वक निरन्तर स्मरण करना भावना योग है। इसमें अशुभ कर्मों की निवृत्ति होती है, सद्भावना तथा समताभाव की वृद्धि होती है, चित्त समाधियुक्त हो जाता है।<sup>४९</sup>

आगमों में भी भावनायोग के महत्त्व को बताते हुये कहा गया है कि साधक भावनायोग से जन्ममरण के दुःखों से छुटकारा पाकर शान्ति का अनुभव करता है।<sup>५०</sup>

३. ध्यान योग -- चित्त को बाह्य विषयों से हटाकर किसी एक सूक्ष्म पदार्थ में एकाग्र करना ध्यान योग है।<sup>५१</sup> शुभ प्रतीकों का आलम्बन लेकर चित्त का स्थिरीकरण ध्यान कहा जाता है। बह् दीपक की स्थिर लौ के समान ज्योतिर्मय एवं निश्चल होता है, सूक्ष्म तथा अन्तःप्रविष्ट चिन्तन से समायुक्त होता है।<sup>५२</sup> प्रश्नव्याकरण में निश्चल दीपशिखा के समान अन्य विषयों के संचार से रहित एक ही विषय पर धारावाही प्रशस्त सूक्ष्म बोध को ध्यान कहा गया है।<sup>५३</sup>

४. समता योग -- विवेच्य ज्ञान की उत्पत्ति से आत्मा में विचार-वैषम्य का लय और सम भाव का परिणमन होने लगता है। वस्तु स्वरूप का यथार्थ बोध होने पर समता का भाव आ जाता है,

सूक्ष्म कर्मों का क्षय होने लगता है। समता योगी चामत्कारिक शक्तियों का प्रयोग नहीं करता। उसकी आशाओं-आकांक्षाओं के तन्तु टूटने लगते हैं।<sup>५४</sup>

५. वृत्तिसंक्षययोग -- आत्मा में मन और शरीर के संसर्ग से उत्पन्न होने वाली विकल्प रूप तथा चेष्टारूप वृत्तियों का जो निरोध किया जाता है और उन्हें पुनः उत्पन्न नहीं होने दिया जाता उसे वृत्तिसंक्षय योग कहा जाता है। वृत्तिसंक्षय से सर्वज्ञता, शैलेशी अवस्था, मानसिक, कायिक, वाचिक प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध, मेरुवत् अप्रकम्प अडोल स्थिति तथा निर्बाध आनन्द प्राप्त होकर अन्ततः मोक्ष की प्राप्ति होती है।<sup>५५</sup> अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसंक्षय इन पाँच में अष्टांग योग के आठ अंगों का समावेश हो जाता है। अध्यात्म और भावना में यम, नियम, आसन, प्रत्याहार का तथा धारणा और ध्यान समता एवं वृत्तिसंक्षय में समाधि का समावेश हो जाता है। आचार्य हरिभद्र ने धर्मशास्त्रों में बताई हुई विधि के अनुसार गुरुजनों की सेवा करना, उनसे तत्त्व ज्ञान सुनने की इच्छा रखना, क्षमतानुसार शास्त्रोक्त विधि निषेधों का पालन करना व्यवहार योग कहा है।<sup>५६</sup> व्यवहार योग का अनुसरण करते-करते सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य में जो विशेष शुद्धि आ जाती है उसे निश्चय योग कहा है।<sup>५७</sup>

## साधना की दृष्टि से योग के भेद

आचार्य हरिभद्र ने साधना की दृष्टि से योग के 5 भेद किये हैं<sup>५८</sup> :-

1. स्थान -- स्थान का अभिप्राय आसन से है जिस सुखासन पर योगी अधिक देर तक चित्त और शरीर को स्थिर रखता हुआ ध्यानस्थ रह सके वही आसन या स्थान उत्तम है।
2. उर्ण -- प्रत्येक क्रिया समवाय के साथ जो सूत्र का उच्चारण किया जाता है उसे उर्ण योग कहा जाता है। इनमें स्वर, मात्रा, अक्षर आदि का ध्यान रखकर उपयोगपूर्वक शुद्ध उच्चारण किया जाता है।
3. अर्थ -- सूत्रों के अर्थ को समझना ही अर्थ योग है।
4. आलम्बन -- ध्यान में स्पात्मक बाह्य विषयों का आश्रय लेना आलम्बन कहा जाता है।
5. अनावलम्बन -- ध्यान में बाह्य विषयों का आश्रय न लेकर शून्य में ही ध्यान को केन्द्रित करना अनावलम्बन योग है। महावीर स्वलम्बन और निरलम्बन दोनों प्रकार की ध्यान साधना करते थे, वे प्रहर तक अनिषेध दृष्टि से ध्यान करते थे, मन को एकाग्र करने के लिये दीवार का अवलम्बन लेते थे। ध्यान के विकास-काल में उनकी त्राटक साधना बहुत देर तक चलती थी।

अनावलम्बन योग के सिद्ध हो जाने पर 'क्षपक श्रेणी' शुरु हो जाती है। फलतः ऐसा साधक परम निर्वाण की प्राप्ति करता है। इसमें साधक के संस्कार इतने दृढ़ हो जाते हैं कि योग प्रवृत्ति करते समय शास्त्र का स्मरण करने की कोई अपेक्षा ही नहीं रहती। समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है।<sup>५९</sup> इसकी तुलना पांतजल योग के 'समाधि' अंग से की जा सकती है।<sup>६०</sup>



यह पाँच प्रकार का योग निश्चय दृष्टि से उसी को सधता है जो चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से अंशतः या सम्पूर्णतया चारित्र सम्पन्न होता है।<sup>६१</sup> जब योग योगी के सम्पर्क में आने वाले अन्य लोगों को भी उत्प्रेरित एवं प्रभावित करे तब इसे सिद्धि योग कहा जाता है।<sup>६२</sup>

तात्त्विक दृष्टि से योग के भेद<sup>६३</sup> --

पाँच प्रकार के शुभ योग कहे गये हैं --

1. प्रणधि -- अपने आचार-विचार में स्थिर रहते हुये, सभी जीवों पर समता भाव रखते हुये निश्चल मन से कर्तव्य का संकल्प करना प्रणधि है। इसमें परोपकार करने की इच्छा और हीन गुणी पर भी दया भाव रहता है।
2. प्रवृत्ति -- इसमें साधक निर्दिष्ट योग साधनाओं में मन को प्रवृत्त करता है अर्थात् धार्मिक व्रत अनुष्ठानों को सम्यक्तया पालन करता है।
3. विघ्नजय -- योग साधना के यम नियमों का पालन करते हुये अनेक प्रकार की मोहजन्य बाह्य या आंतरिक कठिनाइयाँ आती हैं। उन पर विजय पाये बिना साधना पूर्ण नहीं हो सकती। अतः अन्तरायों की निवृत्ति करने वाला शुद्ध आत्म परिणाम विघ्नजय है।
4. सिद्धि -- समता भावादि की उत्पत्ति से साधक की कषायजन्य सारी चंचलता नष्ट हो जाती है। वह अधिक गुण वाले के प्रति बहुमान और हीन गुणवालों के प्रति दया और उपकार की भावना रखने लगता है।
5. विनियोग -- सिद्धि के उपरान्त साधक का उत्तरोत्तर आत्मविकास होता जाता है उसकी धार्मिक वृत्तियों में दृढ़ता, क्षमता, ओज और तेज आ जाता है। उसकी साधना ऊर्जस्वी हो जाती है। साधक की धार्मिक वृत्तियों का उत्तरोत्तर विकास होने लगता है। परोपकार कल्याण आदि वृत्तियों का विकास हो जाता है।<sup>६४</sup>

यह सब योग की क्रमिक विकासोन्मुख स्थितियाँ हैं।

चारित्रिक विकास तथा योग साधना हेतु साधकों के लिये कुछ आवश्यक नियम, उपनियम तथा क्रियाओं को करने का विधान है क्योंकि उनके बिना योग सिद्धि संभव नहीं है। हरिभद्र ने उत्साह, निश्चय, धैर्य, सन्तोष, तत्त्वदर्शन तथा जनपद त्याग (परिचित क्षेत्र से दूर रहना) लौकिक जनों द्वारा स्वीकृत जीवनक्रम का परिवर्जन -- ये योग साधने के हेतु कहे हैं।<sup>६५</sup> हरिभद्र ने योग अनुष्ठानों को पाँच भागों में विभक्त किया है।<sup>६६</sup>

### योगिक अनुष्ठान

1. विष अनुष्ठान -- इस अनुष्ठान को करते समय साधक की इच्छा सांसारिक सुख भोगों की ओर होती है। यश, कीर्ति, इन्द्रिय सुख, धन आदि की प्राप्ति ही उसका परम लक्ष्य होता है। राग आदि भावों की अधिकता के कारण यह अनुष्ठान विष अनुष्ठान है।

2. गरानुष्ठान -- जिस अनुष्ठान के साथ दैविक भोगों की अभिलाषा जुड़ी रहती है उसे मनीषीजन गर कहते हैं। भोग वासना के कारण कालान्तर एवं भवान्तर में वह आत्मा के दुःख और अधोपतन का कारण बनता है।

3. अनानुष्ठान -- जो धार्मिक क्रियायें विवेकहीन होकर लोक-परम्परा का पालन करते हुये भेड़ चाल की तरह की जाती हैं उन्हें अनानुष्ठान कहा जाता है।

4. तद्धेतु अनुष्ठान -- मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा से जो शुभ क्रियायें, धार्मिक व्रत या अनुष्ठान किये जाते हैं उन्हें तद्धेतु अनुष्ठान कहा जाता है। यद्यपि राग का अंश यहाँ भी विद्यमान रहता है, परन्तु प्रशस्त राग होने से वह मोक्ष का कारण है इसलिये सदानुष्ठान कहा जाता है।

5. अमृतानुष्ठान -- जिस अनुष्ठान के साथ-साथ साधक के मन में मोक्षोन्मुख आत्मभाव तथा वैराग्य की आत्मानुभूति जुड़ी रहती है और साधक के मन में अर्हत् पर आस्था बनी रहती है उसे अमृतानुष्ठान कहा गया है -- आदर, प्रीति, अविघ्न, सम्पदागम, जिज्ञासा, तज्ज्ञसेवा, तज्ज्ञानुग्रह, ये सदानुष्ठान के लक्षण कहे गये हैं<sup>६७</sup>।

6. असंगानुष्ठान -- इसमें समता भाव का उदय होता है। इच्छाओं-आकांक्षाओं का नाश होता है सदाचार का पालन करते हुये साधक मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर होता है।<sup>६८</sup> इसके चार भेद कह गये हैं :-

(क) प्रीति -- कषाय से युक्त व्यापारों को प्रीति अनुष्ठान कहा गया है।

(ख) भक्ति -- आचार आदि क्रियाओं से युक्त होना भक्ति है।

(ग) विचार -- शास्त्रानुकूल आचार-विचार का चिन्तन एवं उपदेश वचनानुष्ठान कहे जाते हैं।

(घ) असंगानुष्ठान -- वचनानुष्ठान में स्वाभाविक प्रवृत्ति को असंगानुष्ठान कहा गया है।<sup>६९</sup> इसे अनालम्बन योग भी कहते हैं।

इन अनुष्ठानों के योग से योगी स्वभावतः बाह्य वस्तुओं के प्रति ममता रहित होकर निर्ममत्व की ओर मुड़ता है, केवल ज्ञान को प्राप्त कर अंत में सिद्ध दशा को उपलब्ध कर लेता है। आचार्य कहते हैं अपनी प्रकृति का अवलोकन करते हुये, लोक परम्परा को जानते हुये, शुद्ध योग के आधार पर प्रवृत्ति का औचित्य समझ कर, बाह्य निमित्त शकुन, स्वर नाड़ी, अंग-स्फुरण आदि का अंकन करते हुये, योग में प्रवृत्त होना चाहिये। योगीजन असंगानुष्ठान को विभिन्न संज्ञाओं से पुकारते हैं। सांख्य दर्शन में प्रशान्त वाहिता, बौद्धदर्शन में विसंभोग परिक्षय तथा शैवधर्म में शिववर्त्म कहा गया है। कोई इसे ध्रुव मार्ग भी कहते हैं।<sup>७१</sup> वस्तुतः सिद्धावस्था अथावा निर्वाण अनेक नामों से अभिहित होकर भी एक ही स्थिति का बोधक है।<sup>७२</sup> मुक्त आत्माओं को विभिन्न परम्पराओं में सदाशिव, परब्रह्म, सिद्धात्मा, तथता आदि नामों से पुकारा जाता है।<sup>७३</sup>

## योगजन्य लब्धियां

योगी योग की साधना का उपक्रम करते हुये, जहाँ घिरकाल से संचित कर्मों का क्षय करता है वहाँ योगी में अनेक विशिष्ट शक्तियां जागृत हो जाती हैं जिन्हें जैन परम्परा में लब्धि कहा जाता है इनमें रत्न, अणिमा, आमर्षोषधि आदि के नाम आचार्य हरिभद्र ने बताये हैं।<sup>१४</sup>

आमर्षोषधि -- इस लब्धि के प्रभाव से साधक के शरीर के स्पर्श मात्र से रोगी स्वस्थ हो जाता है।

इन लब्धियों को बौद्ध परम्परा में अभिज्ञाएं, पातंजल योग दर्शन में विभूति<sup>१५</sup> और वैदिक पुराणों में सिद्धि कहा गया है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार जीवन का उत्तरोत्तर विकास करते अहिंसा आदि यम इतनी उत्कृष्ट कोटि में पहुँच जाते हैं कि साधक को अपने आप एक दिव्य शक्ति का उद्रेक हो जाता है। उसके सन्निधि मात्र से उपस्थित प्राणियों पर इतना प्रभाव पड़ता है कि वे स्वयं बदल जाते हैं। उनकी दुष्प्रवृत्ति छूट जाती है। पातंजलि भी कहते हैं कि अहिंसा यम के सिद्ध हो जाने पर योगी के आस-पास के वातावरण में अहिंसा इतनी व्याप्त हो जाती है कि परस्पर वैर रखने वाले प्राणी भी आपस में वैर छोड़ देते हैं।

हेमचन्द्र योगशास्त्र में कहा गया है कि अस्तेय यम के सध जाने पर पृथ्वी में गुप्त स्थान में गड़े हुये रत्न प्रत्यक्ष दीखने लगते हैं।<sup>१६</sup> हरिभद्रीय आवश्यकवृत्ति से ज्ञात होता है कि एक बार वारहवर्षका अकाल पड़ा था, अन्न की बहुत कमी हो गई थी, भिक्षुओं को आहार नहीं मिलता था, आचार्य बल विशेष लब्धि के बल से आहार लाकर संघ की रक्षा करते थे।<sup>१७</sup> किन्तु जिस साधक का अंतिम उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति होता है वह भौतिक और साम्प्रकारिक लब्धियों के व्यामोह में नहीं फंसता। जो साधक लब्धियां पाने की अभीप्सा रखते हैं वे आत्मसिद्धि के मार्ग से च्युत होकर संसार-भ्रमण करते हैं।<sup>१८</sup> अतः इनकी प्राप्ति के लिये न तो साधना करनी चाहिये और न इनका प्रयोग ही करना चाहिये। जिस अनुष्ठान के पीछे लब्धि साम्प्रकारिक शक्ति प्राप्त करने का भाव रहता है उसे विष कहा गया है। वह महान कार्य को अल्प प्रयोजनवश तुच्छ बना देता है।<sup>१९</sup>

इसलिये जैन परम्परा में योगियों को यह प्रेरणा दी गई है कि वे तप का अनुष्ठान किसी लाभ, वश, कीर्ति अथवा परलोक में इन्द्रादि देवों जैसे सुख तथा अन्य ऋद्धियां प्राप्त करने की इच्छा से न करें।<sup>२०</sup>

## योग का महत्त्व

भारतीय संस्कृति में समस्त विचारकों, तत्त्व चिन्तकों एवं मननशील ऋषियों ने योग के महत्त्व को स्वीकार किया है। योग को लौकिक, पारलौकिक, शारीरिक तथा आत्मोन्नति का प्रबल हेतु कहा गया है। मन और इन्द्रियों की चंचलता मिटाने तथा उनको वश में करने के लिये योग की उपयोगिता स्वीकार की गई है। योग से चित्त की एकाग्रता सधती है तथा ध्येय में सफलता प्राप्त होती है।

योग साधना से साधक को स्थिरता, प्रतिभा, अन्तःस्फुरणा, धीरज, श्रद्धा, मैत्री, अन्तर्ज्ञान, लांकाप्रियता, मृत्युज्ञान, सन्तोष, क्षमाशीलता, सहनशीलता, सदाचार, सुख-शान्ति, गौरव, यथा-समय अनुकूल बाह्य परिस्थितियाँ पैदा हो जाना, जैसे अनेक सुख प्राप्त होते हैं।<sup>८१</sup> योगाभ्यास द्वारा आत्मा के क्लेशात्मक परिणामों का उपशम एवं क्षय होता है<sup>८२</sup>। योग जन्म-मरण की परम्परा को नष्ट करता है। दुःखों का नाशक है, मृत्यु को भी जीत लेता है। योग द्वारा आत्मा क्रमशः विकास करती हुई उत्कर्षमय अवस्था प्राप्त करती है तत्त्वतः वही मुक्ति है।<sup>८४</sup> आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि जब चित्त योग रूपी कवच से ढका रहता है तो काम के तीक्ष्ण अस्त्र जो तप को भी छिन्न-भिन्न कर देते हैं कुण्ठित हो जाते हैं। योग रूपी कवच से टकराकर वह शक्ति-शून्य हो जाते हैं।<sup>८५</sup> योग मोक्ष का हेतु है वह शुद्ध ज्ञान और अनुभव पर आधृत है। आत्मकल्याणोच्छृष्ट प्रज्ञाशील पुरुषों को इसका अनुसन्धान करना चाहिये।<sup>८६</sup> अज्ञानता, अविद्या द्वारा अशुद्ध आत्मा योग रूपी अग्नि पाकर शुद्ध निर्मल हो जाती है।<sup>८७</sup> आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि योग उत्तम कल्पवृक्ष है, उत्तम चिन्तामणिरत्न है, वह साधक की समस्त इच्छाओं को पूर्ण करता है। योग ही जीवन की चरम सफलता का हेतु है।<sup>८८</sup> योग न केवल सांसारिक सुखों से अपितु जन्ममरण के दुःखों से भी छुटकारा दिला कर निर्वाण की प्राप्ति कराता है।<sup>९०</sup> लोक तथा शास्त्र से जिसका अविरोध हो जो अनुभव संगत तथा शास्त्रानुगह हो वही योग अनुसरणीय है। मात्र जो जड़ श्रद्धा पर आधृत है विद्वज्जन उसे उपादेय नहीं मानते।

जैन योग का केन्द्रबिन्दु आत्मस्वरूप उपलब्धि है। जहाँ अन्य दर्शनों में जीव का ब्रह्म में लीन हो जाना योग का ध्येय निश्चित किया है। वहाँ जैन दर्शन आत्मा की पूर्ण स्वतंत्रता और पूर्ण विशुद्धि के योग का ध्येय निश्चित करता है। जैन दृष्टि के अनुसार योग का अभिप्राय सिर्फ चेतना का जागरण ही नहीं है वरन् चेतना का ऊर्ध्वारोहण है। योग का वास्तविक फल मुक्तावस्था स्वरूप आनन्द है जो ऐकान्तिक, अनुत्तर और सर्वोत्तम है<sup>९१</sup>। योग विद्या आध्यात्मिक विज्ञान है। अधिकारी जहाँ इसके महत्त्वपूर्ण प्रयोग द्वारा असीम लाभ उठा सकते हैं वहाँ अनाधिकारी हानि उठा लेते हैं<sup>९२</sup>।

## जैन योग और आत्म विकास

अध्यात्म की साधना का आधार आत्मा को कर्म से मुक्त करना है। कर्मशास्त्रीय परिभाषा में प्रवृत्ति या योग से कर्मों का आकर्षण या आस्रव होता है। हमारा चैतन्य कर्म पुद्गलों से आवृत हो जाता है। तपोयोग के द्वारा उसे कर्मावरण से अनावृत किया जा सकता है। जिस प्रकार बीज के सर्व जल जाने से उसमें अंकुरण की क्षमता नहीं होती उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के जल जाने से संसार रूपी अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती।<sup>९३</sup> आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है फिर भी दोनों के स्वभाव एक दूसरे से भिन्न हैं।<sup>९४</sup> कर्म में आत्मा के परिणामों के अनुरूप परिणत होने की योग्यता है इसी कारण आत्मा का कर्मों पर कर्तृत्व घटित होता है।<sup>९५</sup> मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग के साहचर्य से कर्म आत्मा के साथ सम्बन्धित होते हैं। फिर भी तप-साधना के द्वारा इनका पार्थक्य सम्भव है।<sup>९६</sup>

जीव और कर्म पुद्गलों के संयोग से संसार-भ्रमण होता है। जीवन और कर्म पुद्गलों के वियोग से मुक्ति होती है।<sup>६७</sup> हिंसा आदि पापाचरणों से अशुभ कर्मों का, अहिंसादि पुण्याचरणों से शुभ कर्मों का बोध होता है।<sup>६८</sup> कुछ तार्किक कहते हैं कि सुख का कारण शुभ कर्म नहीं है क्योंकि संसार में पापाचरण वाले व्यक्ति को भी सुख की प्राप्ति होते देखा जाता है। आचार्य हरिभद्र कहते हैं ऐसे व्यक्ति का अन्तिम परिणाम दुःख रूप ही होता है वह सुख जो उसे प्राप्त हो रहा है वह किसी पूर्व जन्मकृत धर्माचरण का ही फल है<sup>६९</sup>। आचार्य हरिभद्र का कहना है कि पूर्व बद्ध कर्मों का क्षय, तप, संवर, निर्जरा द्वारा समय से पूर्व ही किया जा सकता है।<sup>१००</sup>

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध प्रवाह की दृष्टि से अनादि है। प्राणी अनादि काल से इस कर्म- प्रवाह में पड़ा हुआ है।<sup>१०१</sup> जीव पुराने कर्मों का विपाक भोगते समय नवीन कर्मों का उपार्जन करता रहता है किन्तु जब तक उसके समस्त कर्म नष्ट नहीं हो जाते उसकी भव-भ्रमण से मुक्ति नहीं होती। प्राणी को स्वोपाजित कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। जैन परम्परा में कर्मों की आठ मूल प्रकृतियाँ कही गई हैं।<sup>१०२</sup> पहली 4 प्रकृतियाँ घाती कहलाती हैं इनमें आत्मा के चार मूल गुण ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति का घात होता है :-

1. ज्ञानावरण -- आत्मा में रहने वाले ज्ञान गुण को प्रकट न होने देना।
2. दर्शनावरण -- आत्म बोध रूप दर्शन गुणों को प्रकट न होने देना।
3. वेदनीय -- वेदनीय कर्म के प्रभाव से सुख-दुःख की अनुभूति होती है।
4. मोहनीय -- मोहनीय कर्म हमारी जीवन दृष्टि और जीवन व्यवहार को दूषित बनाता है।
5. आयु -- कर्म के प्रभाव से जीव की आयु निश्चित होती है। यह आत्मा को शरीर से बांधे रखता है।
6. नाम -- जो शरीर एवं इन्द्रिय रचना का हेतु हो, यह व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्धारक होता है।
7. गोत्र -- जिसके प्रभाव से उच्च अथवा नीच कुल में जन्म होता है या अनुकूल या प्रतिकूल परिवेश की उपलब्धि होती है।
8. अन्तराय -- यह कर्म हमारी प्राप्तियों या उपलब्धियों में बाधक बनता है।

कर्मों से मुक्ति के लिये दो प्रकार की क्रियायें आवश्यक मानी जाती हैं --

1. नवीन कर्मों के उपार्जन का निरोध, इसे संवर भी कहते हैं।
2. पूर्वोपाजित कर्मों का क्षय, इसे निर्जरा कहते हैं।

इन दोनों की पूर्णता से ही मुक्ति होती है। नवीन कर्मों का निरोध-संवर, व्रत, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, चारित्र की साधना से होता है और तप के द्वारा पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा होती है।

तप -- सुसुप्त शक्तियों को जागृत करने के लिये, मन को एकाग्र तथा इन्द्रियों का निग्रह करने के लिये जैन योग साधना में तप को बड़ा महत्त्व दिया गया है।<sup>१०३</sup> तप से ही योगी कर्मों की

निर्जरा<sup>१०४</sup> करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य को प्राप्त करता है। तप की आराधना गृहस्थ एवं श्रमण दोनों के लिये आवश्यक है। कर्म रोग को मिटाने के लिये तप अचूक औषधि है,<sup>१०५</sup> तप से मन, इन्द्रिय और योग की रक्षा होती है<sup>१०६</sup>। अनिदान पूर्वक किया गया तप सुख का प्रदाता है।<sup>१०७</sup> तप आत्मशक्ति को प्रकटीकरण करने की क्रिया और साधना है।<sup>१०८</sup> कषायों का निरोध, ब्रह्मचर्य का पालन, जिनपूजा, अनशन आदि तप के रूप कहे गये हैं।<sup>१०९</sup> तप के दो भेद हैं। बाह्य तप और अभ्यन्तर तप, बाह्य तप का उद्देश्य शारीरिक विकारों को नष्ट करना तथा इन्द्रियों पर जय प्राप्त करना है इसके 6 भेद हैं<sup>११०</sup> :-

1. अनशन -- विशिष्ट अवधि तक आहार का त्याग करना। योगविन्दु में चौद्रायण, कृच्छ्र मृत्युंजय, पापसूदन आदि तपों का उल्लेख हुआ है।<sup>१११</sup>
2. ऊनोदरी -- भूख से कम खाना।
3. वृत्ति-परिसंख्यान -- भोग्य पदार्थों की मात्रा और संख्या का कम करना।
4. रस-परित्याग -- दूध, दही, घी, मक्खन आदि रसों का त्याग।
5. विविक्तशय्यासन ( संलीनता ) -- बाधा रहित एकान्त स्थान में वास करना।
6. कायबलेश -- विविध आसनों का अभ्यास करते हुये, सर्दी-गर्मी को सहना एवं देह के प्रति ममत्व का त्याग करना।

बाह्य तप से शरीर, मन और वृत्तियों पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। मानसिक शक्तियों में वृद्धि होती है। तपोयोगी साधक बाह्य तपों की आराधना से आन्तरिक शुद्धि की ओर अग्रसर होता है। बाह्य तप अभ्यन्तर तप के पूरक है। इससे कषाय, प्रमाद आदि विकारों का शमन किया जाता है। अभ्यन्तर तप के छः भेद हैं<sup>११२</sup> --

1. प्रायश्चित्त -- चित्त शुद्धि के लिये दोषों की आलोचना करके पापों का ह्रदन करता<sup>११३</sup> है।
2. विनय -- गुरु अथवा आचार्य को सम्मान देना तथा उनकी आज्ञा का पालन करना। विनय से अहंकार विगलित होता है, हृदय कोमल बन जाता है। मन में समर्पण एवं भक्ति का अंकुर प्रस्फुरित होता है।
3. वैयावृत्य तप -- निःस्वार्थ भाव से गुरु, वृद्ध, रोगी, ग्लान आदि की सेवा-शुश्रूषा करना।
4. स्वाध्याय -- ज्ञान प्राप्ति के लिये अप्रमादी होकर प्रयास करना। वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा इसके पाँच भेद कहे गये हैं।<sup>११४</sup>
5. व्युत्सर्ग -- देह एवं वस्तुओं के प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग करना।

भगवान् महावीर ने भी 12 वर्ष उत्कृष्ट तप की साधना की थी। इस दीर्घ कालावधि में उन्होंने केवल 359 दिन आहार ग्रहण किया था।<sup>११५</sup> फलाकांक्षा से रहित किया गया, तप संसार क्षय का कारण और निर्वाण प्राप्ति का अचूक साधन है।<sup>११६</sup>

दान -- परमार्थ की सिद्धि के लिये दान, शील, भावना और तप ये चार प्रमुख करण बताये गये हैं।<sup>११७</sup> आचार्य हरिभद्र ने दान और परोपकार रहित सम्पत्ति को लोकविरुद्ध कहा है।<sup>११८</sup>

सुपात्र को दिया हुआ दान उसी प्रकार फलदायक होता है जैसे गाय को दिया हुआ तृण दूध में बदल जाता है।<sup>११६</sup> दान से व्यक्ति के महानतम लक्ष्य परमार्थ की सिद्धि तो होती ही है दान से यश का संवर्धन होता है, लोकप्रियता मिलती है, दारिद्र्य और क्लेश का नाश होता है।<sup>१२०</sup> कार्य करने में अक्षम, अन्ध, दुःखी, रोग-पीडित, निर्धन और जिनकी जीविका का कोई सहारा नहीं है ये सब दान के अधिकारी हैं।<sup>१२१</sup> अनुकम्पा जन्य दान प्रशस्त चित्त का जनक, ममत्व का नाशक और शुद्ध पुण्य के अभ्युदय में प्रधान कारण है।<sup>१२२</sup> शुद्ध दान देने वाला मनुष्य शाश्वत सुख-सम्पत्ति को प्राप्त करता है।<sup>१२३</sup> आचार्य हरिभद्र ने तीन प्रकार के दानों का उल्लेख किया है -- 1. ज्ञान दान 2. अभय दान 3. धर्मोपग्रह दान। ज्ञान-दान सब दानों में श्रेष्ठ माना गया है।<sup>१२४</sup> आचार्य ने अपने पोष्यवर्ग के लिये कोई असुविधा न पैदा करते हुये तथा अपने हितों का भी ध्यान रखते हुये दीन-दुखी लोगों को दान देने की सलाह दी है। इस प्रकार उन्होंने दान के संदर्भ में व्यावहारिकता और दूरदर्शिता का परिचय दिया है। व्यक्ति के दान से आश्रित जन, परिजन और भृत्य वर्ग को कष्ट न हो यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात उन्होंने कही है। कुछ पुण्य-लोभी भावुक दानी होते हैं। वे स्वयं तो दानी बनते हैं किन्तु उनके आश्रित जन असुविधायें झेलते हैं। आचार्य हरिभद्र ने ऐसे दान को प्रशंसनीय नहीं माना है। मनुस्मृति में भी अपने आश्रित परिवार को पीड़ित कर केवल सुख की इच्छा से दान देने वाले को दुःख का भागी कहा है।<sup>125</sup>

मन, वचन, काया से परिशुद्ध तथा जैनाचार के अनुकूल धार्मिक जनों को दिया गया अशन, पान, वस्त्र, औषधि आदि धर्मोपग्रहदान है।<sup>126</sup>

जप -- योग की प्रारम्भिक अवस्था में जप का विशेष महत्त्व है। जप अध्यात्म है, जप देवता के अनुग्रह का अंग है। जैसे मन्त्र-प्रयोग से सर्प आदि का विष दूर हो जाता है उसी प्रकार मन्त्र जप से आत्मा से पाप दूर हो जाते हैं। किसी मन्त्र का बार-बार चिंतन-मनन करना जप कहा जाता है। उत्तम मन्त्र ही जप का विषय है। आचार्य हरिभद्र कहते हैं -- गुरु तथा देव की साक्षी में पद्मासन में स्थित होकर चिंतनीय विषय में मन लगा कर दश आदि उपद्रव को सहता हुआ साधक जप करे।<sup>१२७</sup>

मनीषियों ने शान्त एवं एकान्त-स्थल जप के लिये उत्तम कहे हैं। इसके लिये शुद्ध जलयुक्त नदी, सरोवर, कूप, वापी आदि का तट और लताओं के मण्डप आदि उत्तम स्थान कहे गये हैं।<sup>१२८</sup> जप के लिये हाथ का अंगूठा, अंगुलियों के पोरों पर अथवा मनकों पर चलता है, दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर स्थित रहती है तथा अन्तरात्मा में प्रशांत भाव या चित्त वृत्ति से जप के विषय, अक्षर एवं तद्गत अर्थ-आलम्बन के साथ जप किया जाता है।<sup>१२९</sup> जप से मोह, इन्द्रिय-लिप्सा, काम-वासना तथा कषायों का शमन होता है, कर्मों की निर्जरा होती है और शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। प्रतिज्ञा पूर्वक जप करने वाले के व्यक्तित्व में ऐसी पवित्रता आ जाती है कि किसी समय अगर वह जप नहीं भी करता, तो भी उसकी अन्तर्वृत्ति जप पर ही केन्द्रित रहती है।<sup>१३०</sup> जप के फलस्वरूप भाव धर्म, अन्तः शुद्धिमूलक, अध्यात्म धर्म निष्पन्न होता है।<sup>१३१</sup>

भावना अनुप्रेक्षा -- योग साधना में प्रवृत्त होने वाले साधक के लिये भावना का महत्त्व सबसे अधिक है मैत्री, करुणा माध्यस्थ, प्रमोद आदि 4 भावनाओं का उपदेश देकर निवृत्ति एवं प्रवृत्ति धर्म का समन्वय करने के लिये भूमिका स्थापित की गई है। बहिर्भाव से अन्तर्भाव में रमण करना अनुप्रेक्षा है। साधक की इन्द्रियों तथा मन साधक को सर्वदा अपने मार्ग से विचलित करते हैं एवं उसके राग-द्वेषादि में वृद्धि करते हैं। इन चंचल प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने के लिये जो चिन्तन किया जाता है उसे भावना कहा जाता है। जैन परम्परा में भावना के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुये कहा गया है कि दान, शील, तप, भावना ही धर्म है। इनसे संसार-भ्रमण की समाप्ति की जा सकती है।<sup>१३२</sup>

बन्धुत्व -- मैत्री भावना का सतत् प्रयास करने से साधक के मन में पवित्र भावों का उदय होता है। पवित्र भाव स्पी जल से साधक की द्वेष स्पी अग्नि शान्त हो जाती है।<sup>१३३</sup> बन्धुत्व की भावना से योगी का मन निष्कंप बन जाता है। योगी अपनी वेदना, रोग एवं दुःख-दर्द को भूल जाता है। जब वह अनित्यता का चिन्तन करता है, उससे वैराग्य भाव पैदा होता है और समस्त चंचल मनोवृत्तियाँ और बहुविध मनोकामनायें विलीन होने लगती हैं। इसी प्रकार प्राणी मात्र के प्रति मैत्री भाव, गुणी जनों के प्रति प्रमोद भाव, दुखियों के प्रति करुणा का भाव, विरोधियों के प्रति माध्यस्थ (उपेक्षा) भावना<sup>१३४</sup> साधक की साधना को आगे बढ़ाती है। आचार्य कहते हैं कि द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि में प्रतिबन्ध रहित सभी जीवों पर जो मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावना रखते हैं वे दृढ़ निश्चय वाले मोक्ष मार्ग की आराधना करने वाले होते हैं। मानसिक भावना की श्रेष्ठता को महत्त्व दिया गया है।<sup>१३५</sup> इस संसार से मुक्त होने के लिये भावना आवश्यक है।<sup>१३६</sup> विमल विचारों के पुनः- पुनः चित्त में आते रहने से संस्कार सुदृढ़ होते हैं। सतत् भावना ही ध्यान का रूप ग्रहण करती है। भावना दो प्रकार की है-- 1. ऊर्ध्वमुखी (शुभ भावना) और 2. अधोमुखी (अशुभ भावना)। अशुभ भावना चारित्र को दूषित करती है। इसके कारण जीव अनादि काल से इस संसार में भ्रमण कर रहा है। शुभ भावना साधक को अध्यात्म एवं मुक्ति की दिशा में आगे बढ़ने में सहायता देती है।<sup>१३७</sup>

## सामायिक

सामायिक का अर्थ है समस्त सावद्य (पापकारी) प्रवृत्तियों का विसर्जन। पापों का अपनयन ही समत्व का चरम शिखर है।<sup>१३८</sup> समत्व से साधना का प्रारम्भ होता है। पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना को केवल अविद्या का प्रभाव समझ कर उनके प्रति उपेक्षा धारण करना समता है। समत्व की साधना से कषायों के बन्धन ढीले होते हैं, वीतरागभाव प्रकट होता है। सर्वज्ञों ने सामायिक को मोक्ष का अंग कहा है।<sup>१३९</sup> सामायिक से अन्य साधना में चित्त कुछ समय के लिये ही कल्याणकारी होता है, लेकिन सामायिक में तो चित्त पूर्ण शुद्ध होने से सदैव कल्याणकारी होता है।<sup>१४०</sup> मन, वचन एवं काया तीनों योगों के शुद्ध रूप होने से सर्वथा पाप रहित हैं।<sup>१४१</sup> ज्ञान, तप, चारित्र के होने से ही सामायिक की विशुद्धि होती है, सामायिक केवलज्ञान प्राप्ति का साधन है।<sup>१४२</sup> वीतरागभाव की सिद्धि के लिये समभाव की साधना जरूरी



है, समभाव की सिद्धि के लिये संयम जरूरी है। संयम का अर्थ है पाँच व्रतों की साधना। समता आ जाने पर योगी की वृत्ति में एक ऐसा वैशिष्ट्य आ जाता है कि वह प्राप्त ऋद्धियों और विभूतियों का प्रयोग नहीं करता, उसके सूक्ष्म कर्मों का क्षय होने लगता है और उसकी आशाओं तथा आकांक्षाओं के तन्तु टूटने लगते हैं।<sup>१४३</sup>

आचार्य हरिभद्र कहते हैं जैसे चन्दन अपने को काटने वाली कुल्हाड़ी को भी सुगन्धित बना देता है वैसे ही जो व्यक्ति विरोधी के प्रति समभावरूपी सुगन्ध फैलाता है, उसी की सामायिक शुद्ध होती है।<sup>१४४</sup> सामायिक में साधक नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता और आत्मस्वरूप में अव्यवस्थित रहने के कारण जो पूर्व बद्ध कर्म रहे हुये हैं उनकी भी निर्जरा कर देता है। सामायिक की विशुद्ध साधना से जीवघाती कर्मों को नष्ट कर केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।<sup>१४५</sup>

ध्यान -- ध्यान, तप और भावना ये तीनों शक्ति के स्रोत हैं इनके द्वारा वीतरागता उपलब्ध होती है। योग सिद्धि के लिये चंचल इन्द्रियों का निग्रह करके मन में एकाग्रता लाना आवश्यक है। मानव मन की शक्ति की कोई सीमा नहीं है। वह जितना ही एकाग्र होता है, उतनी ही उसकी शक्ति एक लक्ष्य पर केन्द्रित होती है। इसीलिये भारतीय मनीषियों ने ध्यान को सर्वोपरि माना है। राग-द्वेष की प्रवृत्तियाँ ही मन को अस्थिर करती हैं, इसलिये इन दोनों का निरोध चित्तवृत्ति की स्थिरता के लिये आवश्यक है। मन को केन्द्रित करने के लिये मनीषियों ने ध्यान का विधान किया है। योगी ध्यान की साधना द्वारा चित्त को एकाग्र कर, चेतना की असीम गहराइयों में उतरता हुआ आध्यात्मिक-सत्य का अनुसंधान करता है। शुभ प्रतीकों का आलम्बन, उन पर चित्त के स्थिरीकरण को ज्ञानी जनों के द्वारा ध्यान कहा गया है।<sup>146</sup>

तत्त्वार्थ सूत्र में एकाग्रचिन्तन एवं मन, वचन, काया के योगों के निरोध को ध्यान कहा गया है।<sup>१४६</sup> उतराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि एक आलम्बन पर मन को स्थिर करने से चित्त का निरोध होता है।<sup>१४७</sup> आचार्य हरिभद्र के अनुसार ध्यान से आत्म- नियंत्रण, अक्षुण्ण प्रभावशीलता, मानसिक स्थिरता तथा भव परम्परा का उच्छेद होता है।<sup>१४८</sup> ध्रुव स्मृति ही एकाग्रता एवं ध्यान है। जब एक ही वस्तु पर स्मृति निरन्तर स्थिर रहती है, तो वह एकाग्रता बन जाती है। चेतना की यह निरन्तरता या एकाग्रता ही ध्यान है। ध्यान की प्राप्ति के लिये चार भावनाओं (ज्ञान-भावना, दर्शन-भावना, चारित्र-भावना और वैराग्य-भावना) का अभ्यास आवश्यक है।<sup>१४९</sup> ध्यान करने का अर्थ केवल श्वास- प्रेक्षा या शरीर- प्रेक्षा ही नहीं है। ध्यान आलम्बनों के सहारे राग-द्वेष मुक्त क्षण में जीना है। ध्यान की सिद्धि के लिये चार बातें आवश्यक मानी गई हैं -- सदगुरु का उपदेश, श्रद्धा, निरन्तर अभ्यास और स्थिर मन।

ध्यान चित्त की एकाग्रता है और अष्टांग योग के सभी अंगों में महत्त्वपूर्ण है। ध्यान से कर्मों का क्षय शीघ्रता से होता है। ध्यान से निष्पन्न होने वाली एकाग्रता से आध्यात्मिक विकास में अभूतपूर्व प्रगति होती है।<sup>१५०</sup> ध्यान के चार भेद कहे गये हैं<sup>१५१</sup> --

1. आर्तध्यान -- चेतना की प्रिय या वेदनामय एकाग्र परिणति को आर्तध्यान कहा गया है।

आर्तध्यान से कर्मों का क्षय नहीं होता, अपितु कर्मों का बन्धन बढ़ता है और कर्मों का बन्धन बढ़ने से संसार की वृद्धि होती है।

2. रौद्रध्यान -- अतिशय क्रूर भावनाओं तथा प्रवृत्तियों से संश्लिष्ट ध्यान रौद्रध्यान कहा जाता है। यह ध्यान भी अशुद्ध और अप्रशस्त है। रौद्रध्यान संसार की वृद्धि करने वाला और नरक गति की ओर ले जाने वाला है।

3. धर्मध्यान -- जिससे धर्म का परिज्ञान हो उसे धर्म ध्यान कहा जाता है। इसे शुभ ध्यान कहा गया है। धर्म ध्यान की अनुभूति आंतरिक है। व्यक्ति स्वयं इसको अनुभव करने लगता है। उसका शील स्वभाव भी बदल जाता है। मैत्री की भावना जागृत होती है माध्यस्थ भाव प्रकट होता है और मूर्खा घट जाती है।

4. शुक्लध्यान -- जिस साधक की विषय वासनायें और कषाय नष्ट हो जाते हैं और चित्त वृत्ति निर्मल हो जाती है उसे शुक्ल ध्यान की उपलब्धि होती है। शुक्ल ध्यान की यह उपलब्धि ही हरिभद्र की दृष्टि में हमारी योग-साधना की चरम परिणति है क्योंकि यह मोक्ष का अन्यतम कारण है।

---

- पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी।

## सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. पातंजलयोगशास्त्र, 1/2
२. योगशतक, 22
३. वही, 2/3
४. 'भोक्खेन जोयणाओ जोगो'  
योगविशिका, गा. 1
५. योगबिन्दु, 31
६. उपाध्याय अमर मुनि जी लेख 'जैन योग  
एक परिशीलन'
७. योगदृष्टिसमुच्चय, 3,4,5
८. योगशतक, 25
९. वही, 52
१०. वही, 47
११. योगदृष्टिसमुच्चय, 23,26,27,28
१२. वही, 210, 211
१३. वही, 20
१४. वही, 210, 212
१५. योगशतक, गा. 92
१६. वही, गा. 9
१७. योगबिन्दु, 84-86
१८. योगदृष्टिसमुच्चय, 40
१९. वही, 72, 79
२०. योगबिन्दु, 178
२१. योगशतक, 13, योगबिन्दु, 203-5
२२. वही, 25
२३. वही, 14
२४. वही, 36
२५. वही, 15
२६. वही, 27
२७. योगबिन्दु, 352-357
२८. योगशतक, 24,25,27,29
२९. योगबिन्दु, 375
३०. योगदृष्टिसमुच्चय, 17
३१. वही, 25
३२. पातंजलयोगदर्शन, 2/30
३३. योगदृष्टिसमुच्चय, 43,44
३४. पातंजलयोगदर्शन, 2/32
३५. योगदृष्टिसमुच्चय, 49,50
३६. पातंजलयोगदर्शन, 2/46
३७. योगदृष्टिसमुच्चय, 57-58
३८. पातंजलयोगदर्शन, 2/49
३९. योगदृष्टिसमुच्चय, 156
४०. पातंजलयोगदर्शन, 12/54
४१. योगदृष्टिसमुच्चय, 162-169
४२. पातंजलयोगदर्शन, 3/1
४३. योगदृष्टिसमुच्चय, 170-171
४४. पातंजलयोगदर्शन, 3/2
४५. योगदृष्टिसमुच्चय, 178,179,184
४६. पातंजलयोगदर्शन, 3/3
४७. योगशतक, 5
४८. योगबिन्दु, 357-358
४९. वही, 360
५०. सूत्रकृतांग, 15/5
५१. योगबिन्दु, 362
५२. वही,
५३. प्रश्न व्याकरण, संवर द्वार, 5
५४. योगबिन्दु, 365
५५. वही, 366-367
५६. योगशतक, 5
५७. वही, 6
५८. योगविशिका, 2
५९. वही, 17
६०. पातंजलयोगदर्शन, 3/3
६१. योगविशिका, 3
६२. वही, 6

६३. ललितविस्तरा, 166.167  
 ६४. षोडशक, 3/7-11  
 ६५. योगबिन्दु, 411  
 ६६. वही, 155-160  
 ६७. योगदृष्टिसमुच्चय, 123  
 ६८. वही, 173  
 ६९. वही, 175, षोडशक, 10/2 उद्धृत  
 जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन,  
 लेखक डॉ. अर्हददास बंडोबा दिगे ।  
 ७०. योगशतक, ३६  
 ७१. योगदृष्टिसमुच्चय, 176  
 ७२. वही, 128  
 ७३. वही, 130  
 ७४. योगशतक, 83,84,85  
 ७५. पातंजलयोगदर्शन, 3/3  
 ७६. योगबिन्दु, 2/8  
 ७७. हारिभद्रीय आवश्यक वृत्ति, पृ.202  
 ७८. योगशतक, 83,85  
 ७९. योगबिन्दु, 156  
 ८०. दशवैकालिकसूत्र 9/4/1  
 ८१. योगबिन्दु, 52-54  
 ८२. वही, 492  
 ८३. वही, 34  
 ८४. वही, 493  
 ८५. वही, 39  
 ८६. वही, 4  
 ८७. वही, 41  
 ८८. वही, 37  
 ८९. वही, 38  
 ९०. वही, 22  
 ९१. वही, 506  
 ९२. योगदृष्टिसमुच्चय, 213  
 ९३. शास्त्रवार्तासमुच्चय, 11/693  
 ९४. योगशतक, 54  
 ९५. योगबिन्दु, 13  
 ९६. वही, 57  
 ९७. वही, 6  
 ९८. शास्त्रवार्तासमुच्चय, 109  
 ९९. वही, 140  
 १००. श्रावकप्रज्ञप्ति, गा. 200, 203  
 १०१. योगबिन्दु, 10  
 १०२. श्रावकप्रज्ञप्ति, गा. 4  
 १०३. तत्त्वार्थसूत्र, 9/3  
 १०४. वही, श्रावकप्रज्ञप्ति, गा. 81  
 १०५. योगशतक,  
 १०६. अष्टक, 6/1  
 १०७. पंचाशक, 19/922  
 १०८. वही, 18/894  
 १०९. वही, 19/929-31  
 ११०. वही, 18/897, उत्तराध्ययन,  
 29/25.  
 १११. वही, 18/898  
 ११२. पंचाशक, 18/899  
 ११३. पंचाशक सटीक विवरण उद्धृत, जैन  
 योग सिद्धान्त और साधना, पृ.259,  
 तत्त्वार्थसूत्र हरिभद्र, पृ.478  
 ११४. तत्त्वार्थसूत्र हरिभद्र, पृ.483-83  
 ११५. वही,  
 ११६. आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति, पृ.227-9  
 ११७. पंचाशक, 19/922  
 ११८. समराइच्चकहा, 5/440  
 ११९. वही, 7/747  
 १२०. वही, 3/191  
 १२१. योगबिन्दु, 125  
 १२२. अष्टक, 27/5  
 १२३. समराइच्चकहा, 3/191  
 १२४. वही, 3/188  
 १२५. मनुस्मृति, 11/10  
 १२६. समराइच्चकहा, 3/190  
 १२७. योगबिन्दु, 381, 382

१२७. योगशतक, 61  
 १२८. योगबिन्दु, 381-383  
 १२९. वही, 384-385  
 १३०. वही, 387  
 १३१. वही, 388  
 १३२अ. योगशतक, 52,74,79  
 १३२. ललितविस्तरा, पृ. 204  
 १३३. योगशतक, 79  
 १३४. वही, 86-89  
 १३५. पंचाशक, 11/42  
 १३६. योगबिन्दु, 70  
 १३७. शास्त्रवार्तासमुच्चय, 4  
 १३८. योगबिन्दु, 252, 272, 364  
 १३९. अष्टकम्, 29/1  
 १४०. वही, 29/8  
 १४१. वही, 29/2  
 १४२. अष्टकम्, 32/2  
 १४३. योगबिन्दु, 365  
 १४४. अष्टक, 29/1  
 १४५. वही, 307/1  
 १४६अ. योगबिन्दु, 362  
 १४६. तत्त्वार्थसूत्र, 9/27  
 १४७. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/26  
 १४८. योगबिन्दु, 363  
 १४९. वही, 388  
 १५०. वही, 366  
 १५१. सम्बोधप्रकरण, 4/5,19, 24, 73

# डॉ. ईश्वरदयाल कृत 'जैन निर्वाण : परम्परा और परिवृत्त' लेख में 'आत्मा की माप-जोख' शीर्षक के अन्तर्गत उठाये गये प्रश्नों के उत्तर :-

- पुखराज भण्डारी

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी से प्रकाशित 'लाला हरजसराय स्मृति ग्रन्थ' के पृष्ठ 107 से 115 में डॉ. ईश्वरदयाल का उपर्युक्त लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में लेखक ने "मोक्ष" व "निर्वाण" की सुस्पष्ट व्याख्या की है। आपने कर्मों के सम्पूर्ण क्षय को "परिणति" और "निर्वाण" को "स्थिति" की संज्ञा दी है, और इस तरह मोक्ष और निर्वाण की पतली भेदरेखा को चित्रित किया है। आपने सुन्दर ढंग से "पारंगमा", "तीरंगमा" तथा ओघंतरा" को "मोक्ष" और "ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अन्नहा" को मुक्तात्मा की अवस्था, अर्थात् "निर्वाण" कहकर आगमों की भाषा में समझाया है।

पृष्ठ 111 में आपने सिद्धात्मा के विषय में निम्नलिखित बातें लिखी हैं :-

1. पुद्गल द्रव्य के निकल जाने से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में रह जाती है।
2. इससे खाली प्रदेशों को आत्मद्रव्य से भरने के बाद उसका आकार शरीर का दो तिहाई रह जाता है।
3. वह (मुक्तात्मा) ऊपर उठती है और लोकाग्र तक जाकर सिद्धशिला पर ठहर जाती है।
4. धर्मद्रव्य उपस्थित न होने के कारण उसकी अलोकाकाश में गति नहीं हो सकती।
5. सिद्धों में परस्पर अवगाहन होता है। जहाँ एक सिद्ध होता है, वहाँ एक दूसरे में प्रवेश पाकर अनन्त सिद्धात्माएँ स्थित हो जाती हैं।
6. जैसे दग्ध बीजों में अंकुर नहीं फूट सकते, वैसे ही मुक्त जीव फिर जन्म धारण नहीं करते।
7. सिद्धात्माएँ अद्वितीय सुखमय होती हैं।

इस वर्णन के बाद पृष्ठ 113 पर "आत्मा की माप जोख" शीर्षक के अन्तर्गत लेखक ने निम्न प्रश्न उठाये हैं, जिनके प्रश्नों के उत्तर देना ही हमारा उद्देश्य है।

## आत्मा की माप-जोख

1. पारम्परिक जैन मान्यता यह है कि निर्वाण के समय आत्मा पूर्व शरीर के ही दो तिहाई आकार में होती है। क्योंकि कर्म-परमाणुओं के निकल जाने पर खाली हुए प्रदेशों को भर कर

आत्म-परमाणु घनीभूत हो जाते हैं। इसका कारण यह परम्परा यह मानती है कि शैलेषी अवस्था के साथ ही सारे कर्म समाप्त हो जाते हैं और कर्म के अभाव में आत्मा की कोई गति सम्भव नहीं। लेकिन यह मान्यता कुछ प्रश्नों को जन्म देती है।

2. जैन परम्परा मानती है कि आत्मा के प्रदेश का विस्तार सारे लोक तक हो सकता है। केवलि समुद्घात के समय सारे लोक में आत्म-प्रदेश फैल कर व्याप्त हो जाते हैं। दिगम्बर परम्परा की मान्यता है कि निर्वाण के पूर्व केवलि समुद्घात होता है। फिर आत्मा के सारे प्रदेश पुनः संकुचित होकर शरीर का दो तिहाई विस्तार ग्रहण कर लेते हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि आत्मा स्वभाव से लोकव्यापी है।

3. अगर कर्म शेष होने के कारण आत्मा अपना मूल लोकव्यापी विस्तार नहीं पा सकती तो कर्म के अभाव में वह संकोच की प्रक्रिया भी कैसे सम्पन्न कर सकती है ?

4. अगर कर्म-द्रव्य के अभाव से शून्य प्रदेशों को भरने के लिए उसका संकुचित होना आवश्यक है तो कर्मावरणों के क्षीण होकर समाप्त हो जाने पर उसका फैल कर अपना असीम आकार ग्रहण कर लेना भी आवश्यक होना चाहिए।

5. क्या आत्मा का सघनतम आकार मानव-शरीर का दो तिहाई ही है ? अपनी मूल स्थिति में संकुचित और घनीभूत होते समय अगर मानव-शरीर का दो तिहाई ही उसकी संकोच सीमा है और उससे अधिक उसका संकोच सम्भव ही नहीं तो निगोदिया जीव, जिसकी अवगाहना सबसे कम होती है, में वह कैसे रह पाती है ? अगर संकुचित होकर आत्मा अपनी मूल द्रव्यात्मक सत्ता ही पाना चाहे तो वह निगोदिया जीव से भी छोटी होनी चाहिए क्योंकि उसमें आत्मा तथा द्रव्य पुद्गल दोनों होते हैं और वह मानवीय आत्मा के समान ही अपनी मूल सत्ता में होती है।

6. अगर कर्म से ही सारी गति होती है तो कर्म-मुक्ति की गति- शून्य अवस्था एक भयंकर बन्धन हो गई, क्योंकि मरण-काल की स्थिति में ही उसे अनन्त काल तक सिद्धशिला पर रहना होगा।

7. अगर आत्मा में खाली प्रदेश हो ही नहीं सकते और अजीव-द्रव्य के निकलते ही उसे उन्हें भर कर घनीभूत होना ही पड़ता है तो सिद्धों की आत्माओं की परस्पर अवगाहना कैसे सम्भव होती है ?

8. शरीर से मुक्त होने का अर्थ है रूप से मुक्त होना -- आकार से मुक्त होना क्योंकि रूप की परिधि मात्र ही आकार है। अरूप निराकार होगा, निराकार निःसीम होगा क्योंकि आकार सीमा ही है और निःसीम दो नहीं हो सकते क्योंकि ऐसी स्थिति में वे दोनों एक दूसरे की सीमा को ससीम कर अपनी निःसीम सत्ता ही समाप्त कर डालेंगे। अतः आत्मा की सत्ता पर अनेकात्मकता ठहर नहीं पाती।

9. गुण शरीर के साथ जुड़े हैं। शरीर मुक्त गुणातीत होगा और संख्या स्वयं एक गुण है, अतः उसके भी पार ही होगा। उसे अनन्त कहें या एक -- संख्या की दृष्टि से इन सब अभिधाओं का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

10. पार्थक्य का आधार है व्यक्तिगत भिन्नताएँ, जो शरीर और मन के पार अपनी कोई सत्ता नहीं रखती -- शेष रहती है निर्गुणात्मक सत्ता जो अभेद है, अतः अभिन्न भी है और अभिन्न है अतः एक भी है।

यही है निर्वाण की परम अद्वैत स्थिति जो वेदान्त परम्परा का ब्रह्म, सूफियों का शून्य, बुद्ध का लोकव्यापी धर्म धातुकाय, लाओ-त्जे का ताओ, कनफ्यूशियस की हार्मनी है। आचारांगसूत्र, जिसे हर्मन जैकाबी ने महावीर की प्रामाणिक वाणी का स्रोत माना है, में भगवान् ने निर्वाणस्थ आत्मा का जो चित्र प्रस्तुत किया है उसमें सिद्धशिला, अवगाहना एवं आकारमय असंख्य जीवों, ऊर्ध्वगमन आदि बातों का कोई सन्दर्भ नहीं है। वस्तुतः सिद्धशिला आत्मा की परम शुद्ध एवं सर्वोच्च पवित्रता की स्थिति तथा लोक की अग्रसत्ता के रूप में उसकी गरिमा की प्रतीक है। ऊर्ध्वगमन भावना के स्तर पर आत्मा के विकास, आत्मा-साधना की आरोहणमयी स्थिति की प्रतीक है। इन्हें परवर्ती परम्परा ने अभिधात्मक अर्थ में लेकर एकदम अनर्थ की सृष्टि कर डाली है।

भगवान् ने निर्वाण की स्थिति का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह परम प्रेरणादायी है :

### 11. सव्वे सरा णियट्टन्ति

तक्का जत्थ ण विज्जइ

मइ तत्थ ण गहिया

ओए अप्पतिट्ठाणस्स खेयन्ने

"सारे स्वर लौट आते हैं वहाँ से,  
तर्क की सत्ता नहीं रहती जहाँ,  
ग्रहण ही नहीं कर पाती जिसे बुद्धि  
वह निराधार निःसीम ज्ञाता तत्त्व।"

से ण दीहे, ण हस्से

ण वट्ठे ण तंसे ण चउरंसे ण परिमंडले

"वह न बड़ा है न छोटा आकार में  
न गोल, न त्रिकोण, न चतुष्कोण, न परिमंडल  
(कोई माप नहीं जिसका, न कोई आकार)

ण किण्हे ण णाले लोहिए ण हालिद्धे ण सुविकल्ले  
ण सुब्भिगंधे, ण दुब्भिगंधे।

"वह न काला है न नीला, न लाल, न नारंगी, न सफेद  
न सुगन्धित है, न दुर्गन्धित।"

ण तित्ते ण कडुए ण कसाए णअंबिले ण महुरे

ण कक्खडे ण मउए ण गरुए ण लहुए

ण सीए ण उण्हे ण णिद्धे ण लुक्खे।



"वह न तिव्र है, न कटुक, न कसैला, न खट्टा, न मीठा  
न कठोर, न कोमल, न भारी, न हल्का  
न स्निग्ध न रूखा" ।

"कोई शरीर नहीं है जिसका"

"कभी जन्म नहीं होगा जिसका"

"स्पर्श नहीं कर सकता जिसको कोई"

"वह न स्त्री है, न पुरुष, अन्य कुछ भी नहीं"

"वह जाता है, चेतन है"

"कोई उपमा नहीं है उसकी"

"अरूपी सत्ता है"

"उस निर्विशेष की कोई विशेषता नहीं कही जा सकती"

यह है निर्वाण की परम स्थिति जो गुणातीत है, शब्दातीत है, अद्वैत है। द्वैत रूप गुणात्मक होते हैं। शरीर के पार, मन के पार रूप-गुणों की सत्ता नहीं रहती। अतः द्वैत की सत्ता भी नहीं रहती। उसे शून्य कहें या सर्व, दोनों मात्र दो शब्द हैं। महाप्राण निराला ने लिखा है -- "शून्य को ही सब कुछ कहें या कुछ भी नहीं, दोनों एक ही चीज है" (शून्य और शक्ति) लोक-अलोक की सारी सीमाएँ उस जाता की परम सत्ता के समक्ष अदृश्य हो जाती हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा है :

**आदा णाण पमाणं णाणं णेयप्पमाणमुदिट्ठं ।**

**णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वनयं ।।**

जाता ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है, तथा ज्ञेय है लोकालोक प्रमाण। अतः सर्वगत है ज्ञान, सर्वगत है जाता-आत्मा अपनी शुद्ध-बुद्ध सत्ता में। महावीर के शब्दों में आत्मा एक है-- एण आया। इस एक को जो जानता है वह सब को जानता है -- जे एणं जाणइ से सव्वं जाणइ। यही वेदान्त, बौद्ध, ताओ, कनफ्यूशियस, ईसाई, जरथुस्त्र -- दर्शन का मन्तव्य है। भेद है तो शब्दों के, जो देशकाल व परम्परा-सापेक्ष होते हैं। लेकिन अभेद है सत्य, एक है सत्य, भगवान् है सत्य -- सच्चं भगवं।

जैनदर्शन सिद्धों के आठ गुण मानता है :

1. अनन्तज्ञान
2. अनन्तदर्शन
3. अनन्त-अव्याबाध सुखमय स्थिति
4. अनन्तचारित्र
5. अक्षय स्थिति
6. अरूपी
7. अगुरुलघु
8. अनन्तवीर्य

इस लोक में आत्माएँ/जीव अनन्त हैं। अनादि निगोद से निकलकर, भवस्थिति परिपक्व होने पर, जीव अपने चरम जीवन में मनुष्य-जन्म पाकर कर्मों की निर्जरा करता है। संपूर्ण कर्मों का क्षय करके शुद्ध-बुद्ध और मुक्त होकर ऊर्ध्वगति के द्वारा, मात्र एक समय में वह, लोकाय

तक जाकर सिद्धशिला पर सादिअनन्तकाल तक अवस्थित हो जाता है। जीव संसार के जिस स्थान से मुक्त होता है, उसी सीधी रेखा में जाकर सिद्धशिला पर अनन्त सुखमय स्थिति में स्थित हो जाता है। इस बात को समझ लेना आवश्यक है। सिद्धों में परस्पर अक्गाहन होने के कारण सिद्धशिला पर के एक प्रदेश में अनन्त सिद्ध कैसे ही समा जाते हैं, जैसे आकाश के एक प्रदेश में अनन्त पुद्गल-परमाणुओं का सघन स्कन्ध अपने घनत्व गुण के कारण समा जाता है। निर्वाण की परम अद्वैत स्थिति, जो वेदान्त-परम्परा का 'ब्रह्म' है, और उसके साथ जैन- दर्शन मान्य "सिद्ध" को मिलाने का जो प्रयत्न श्री ईश्वरदयाल ने किया है, वस्तुतः वह जैन दर्शन की मान्यता इसके एकदम विपरीत है। जैन दर्शन की अवधारणा है कि जैसे संसार में अलग-अलग जीव/आत्माएँ हैं, वैसे ही सिद्धशिला पर सिद्धात्माएँ भी अलग-अलग हैं। वे सिद्धजीव वहाँ अपने सम्पूर्ण अनावृत चैतन्य/पारिणामिक भाव के साथ अलग-अलग सत्ता में स्थित होते हैं। वहाँ भी द्वैत ही है, अद्वैत नहीं। वेदान्त तो एक ही ब्रह्म को संसार से निर्वाण तक प्रसारित मानता है। जैन दर्शन के साथ उसका यहाँ मूलभूत मतभेद है। हाँ, एक ही तरह के शुद्ध स्वरूप, चैतन्यमय, ज्योतिस्वरूप अनन्त सिद्धों को कोई एक रूप मान ले तो बाधित नहीं है।

"आत्मा की माप-जोख" ( देखिये पृष्ठ 113 ) के उत्तर :-

1. जैन दर्शन की मान्यता है कि जीव (आत्मा) जो चेतन सत्ता है, उसमें संकोच-विस्तार का गुण अनादि से है। वह चींटी और हाथी में अपने सम्पूर्ण रूप में स्थित रहता है। यह नियम है कि जीव को संज्ञी-पंचेन्द्रिय मनुष्य के जन्म में ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह भी नियम है कि औदारिक (पौद्गलिक) मनुष्य शरीर के बाह्य आकार की अपेक्षा से जीव का आकार दो तिहाई होता है अर्थात् कायिक परमाणुओं की समग्रता से एक तिहाई कम। मुक्त होने पर जीव को खाली प्रदेशों को भरने की आवश्यकता नहीं होती। उसका स्वरूप तो शुद्ध रूप से अपनी अंतिम (चरम) काया का दो तिहाई ही है।

2. केवलि-समुद्घात जीव का असाधारण पुरुषार्थ है। वैसे जैनदर्शन जीव को जघन्यरूप से सूक्ष्मनिगोद और उत्कृष्ट रूप में केवलि-समुद्घात के समय समग्र लोकाकाश-प्रमाण मानता ही है। जब केवलि के ज्ञान में मुक्ति का समय निकट आता है, तब केवलि समुद्घात करके मात्र आठ समय (काल का सूक्ष्मतम विभाग) में शेष समस्त अघाती कर्मों को झाड़कर (नाशकर) जीव अपने मूल स्वरूप (चरम-शरीर का दो तिहाई भाग) में लौट आता है।

3. आत्मा अपना लोकव्यापी विस्तार अघाती कर्मों को नष्ट करने के लिए पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करती है। जब तक देह है, तब तक कर्म शेष हैं अर्थात् केवलि-समुद्घात करके आठ समय में जीव देह प्रमाण हो जाता है -- तब भी देह रहता है। तेरहवें गुणस्थानक के अन्त में 'अ-इ-उ-ऋ-लृ' इन पाँच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण जितने अल्प समय में चरमदेह से भी मुक्त होकर जीव लोकाग्र में सिद्धशिला पर अवस्थित हो जाता है। संकोच-विस्तार गुण आत्मा का अपना है, वह कर्मों के आश्रित नहीं है।

4. कर्मद्रव्य के अभाव में आत्मा शून्य प्रदेशों को नहीं भरता, वह अपने स्वाभाविक रूप में काया का दो तिहाई होता है। आत्मा में शून्य प्रदेश होता ही नहीं है। असीम आकार ग्रहण कर लेने की कल्पना अनुचित है।

5. आत्मा अपने संकोच-विस्तार रूप स्वशक्ति से ही सूक्ष्मनिगोद में भी और हाथी जैसे बड़े जीव के शरीर में भी संपूर्ण रूप से स्थित रहती है -- अपनी उस जन्म की आयु तक। यह शारीरिक अवगाहन शक्ति है। सिद्धों का परस्पर अवगाहन जीव के शुद्ध, बुद्ध, मुक्त होने पर होता है।

6. कर्म से ही जीव की सारी गति नहीं होती। कर्म मुक्त होते ही जीव अपने स्वगुण से ऊर्ध्वगमन करता है। यह ध्यान में रखने योग्य है कि गति की अपेक्षा से कर्म की अधोगति है और (मुक्त) जीव की ऊर्ध्वगति। जैसे एक तुंबे को घनी मिट्टी से 6-7 बार आवेष्टित करने पर वह जल में डूब जाता है और मिट्टी साफ हो जाने पर वही तुंबा जल के ऊपर आ जाता है। यह मात्र एक लाक्षणिक उदाहरण है। आत्मा की ऊर्ध्वगति को किसी उदाहरण की अपेक्षा नहीं है।

7. आत्मा के खाली प्रदेश नहीं होते। अजीव द्रव्य (कर्म) के निकलने पर उन्हें भरने की आवश्यकता नहीं होती। सिद्धों की परस्पर अवगाहना जीव के अपने अव्याबाध गुण की आभारी है।

8. शरीर से मुक्त होने का अर्थ है पुद्गलजन्य आकृति से मुक्त होना। जीव का अपना आकार है, जो पुद्गलजन्य नहीं है। मुक्त अवस्था में अन्तिम शरीर का दो तिहाई आकार जीव का रहता है, जो मात्र केवलिगम्य है। मुक्तावस्था में भी जीव निःसीम नहीं है, उसका ज्ञान-दर्शन निःसीम है। आत्मा की अनेकता तो हम शुरू में ही सिद्ध कर चुके हैं। सिद्ध भी अनन्त हैं। एक से हैं, परन्तु एक नहीं।

9. शरीर के गुण पुद्गल के गुण हैं। जीव के अपने गुण हैं -- ज्ञान, दर्शन, उपयोग, वीर्य, अरूपित्व, सुख आदि। अलग-अलग सिद्धात्माओं में ये ही गुण हैं, लेकिन वे एक नहीं होतीं।

10. पार्थक्य का आधार -- जैसे शरीर और मन के साथ व्यक्तिगत भिन्नता है, वैसे अपनी शुद्ध अवस्था में जीव का पार्थक्य भिन्न-भिन्न चेतनस्वरूप से है। सिद्धावस्था में शरीर, मन, कर्म, पुद्गल आदि का अस्तित्व या आधार रहता ही नहीं है और सिद्ध जीव अभिन्न, एक या निर्गुण नहीं होते, जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है।

11. डॉ. ईश्वरदयाल ने आचारांग -प्रथम श्रुतस्कन्ध 1-5-6 के सूत्र 176 'सव्वे सरा णियट्टन्ति...' को उद्धृत किया है, यह वर्णन मुक्तात्मा का है, और पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी ने किया है। वास्तव में यही भगवान महावीर ने कहा है, पर, लेखक ने निर्वाण की स्थिति का जो चित्र प्रस्तुत किया है, उसको अद्वैत और शून्य बतलाया है -- यह बात जैन दर्शन को मान्य नहीं है। निराकार और शून्य का प्रश्न ही नहीं है। आत्मार्ण (संसारी और सिद्ध दोनों अवस्थाओं में) अलग-अलग हैं और कर्ममुक्त होने पर ऊर्ध्वगमन जीव का अपना स्वभाव है।

स्थान, जिस पर सिद्ध जीव सादि-अनन्त काल तक निवास करता है -- वह सिद्धशिला है, जिसका वर्णन प्राचीनतम जैन साहित्य से लेकर परवर्ती ग्रन्थों तक में मिलता है। अलोकाकाश में धर्मद्रव्य न होने से जीव की गति नहीं है, यह डॉ. ईश्वरदयाल अपने लेख में पृष्ठ 111 पर स्वीकार कर चुके हैं।

### उपसंहार

1. जैन दर्शन की मान्यतानुसार-आत्मा अपनी मुक्तावस्था में न तो निःसीम है, न शून्य है, न गुणातीत है और न ही अद्वैत है। जैसे दीपक के बुझ जाने पर उसके पुद्गल आकाश में बिखर जाते हैं, समाप्त नहीं हो जाते। वैसे ही जीव अपने शुद्ध रूप में समाप्त या शून्य नहीं हो जाता। अपने अनन्त-चतुष्टय गुणों के साथ वह सदैव उपस्थित रहता है।

2. जीव शुद्ध रूप में ऊर्ध्वगति के साथ सिद्धशिला के ऊपर जाकर सादि-अनन्त काल तक सत्-चित्-आनन्द के साथ स्थित हो जाता है।

3. शरीर और मन के पार भी शुद्धात्मा/चेतनद्रव्य की सत्ता अपने स्वरूप और गुणों के साथ अवस्थित है। पर द्रव्य से सर्वथा वह मुक्त है, इसीलिए मुक्तात्मा/सिद्ध कहलाता है। स्वद्रव्य के गुण तो सदा जीव के साथ ही रहते हैं।

# पल्लवनरेश महेन्द्रवर्मन "प्रथम" कृत मत्तविलासप्रहसन में वर्णित धर्म और समाज

- दिनेश चन्द्र चौबीसा

संस्कृत साहित्य का कलेवर बहु-आयामी है। संस्कृत के दृश्य-पक्ष की एकाधिकता विपुल नाट्य-साहित्य की थाती है। संस्कृत-नाटकों में लोकजीवन व उनकी आस्था से सम्बद्ध धार्मिक पक्ष की सामग्री अत्यल्प है क्योंकि अधिकतर नाटक राजाओं की प्रेम-कहानियों पर आधारित हैं। इनमें लोक जीवन के कहकहे, कलह, बेबसी, भुखमरी, सामाजिक व धार्मिक परिवेश में धर्म का निर्वाह आदि के असली चित्रों को उघाड़ा नहीं गया है। धार्मिक व सामाजिक जीवन से जुड़े कटु-सत्यों का कच्चा चिट्ठा रूपक के ही भेद-प्रहसनों में खुलकर सामने आया। भारतीय संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने व विविधता में एकता के सूत्र को सार तत्त्व के रूप में सामाजिकों तक पहुँचाने के लिए स्वाभिमान के धनी लेखकों ने अपयश की चिन्ता किये बिना हलका कहा जाने वाला (प्रहसन) साहित्य रचा। मत्तविलास इस श्रेणी का एक प्रहसन है इसमें विभिन्न धर्मों की तात्कालिक अवस्थिति को स्पष्ट कर, उनमें व्याप्त बुराइयों को समाज के सामने लाने का प्रयास किया गया है। धार्मिक पाखण्डियों का पर्दाफाश कर उन्हें जन-अदालत में खड़ा किया गया है। कर्तव्य के क्रियात्मक स्वरूप व जीवन-उद्धारक नीति-तत्त्व समाज को तोड़ते नहीं, अपितु बाँधते हैं, धर्म समस्त विश्व को प्रतिष्ठा देने वाला स्थिर तत्त्व है -- धर्मों विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठां, इसी अमोघ मन्त्र को मत्तविलास में प्रतिपादित किया गया है।

1. शैव धर्म वैदिक धर्म की एक शाखा है। शैव धर्म की कई शाखाएँ पल्लवित हुईं, इसमें पाशुपत, कापालिक, वीर-लिंगायत आदि प्रमुख हैं। इन सभी सम्प्रदायों के आराध्य देव शिव थे।

शिव की उपासना प्रत्येक शैव सम्प्रदाय में भिन्न-भिन्न ढंग से की जाती थी। कापालिक-सम्प्रदाय में अनेक समाज विरोधी प्रवृत्तियाँ समाहित हो गयी थीं।

कापालिक, इहलौकिक और पारलौकिक अभीष्ट इच्छाओं की पूर्ति के लिए निम्नलिखित उपायों को जीवन में आत्मसात कर चुके थे :--

1. स्त्री समागम के लिए लालायित रहना, सुरापान करना।<sup>2</sup>
2. नशेड़ी-जीवन -- इनके जीवन में नशा रच-पच गया था। हर समय सुरा पीने की बात इनके मुख से सुनाई पड़ती थी।

द्रष्टव्य -- शराब पीने के पात्र में ढाली गई यह श्रेष्ठ मदिरा, मानो श्रृंगार की चुनौती है। प्रेम कुपितों (जनों) के लिए मानो स्तुति है, युवावस्था की वीरता तथा विभ्रमों (विलासियों) की जान है।<sup>3</sup> नशेड़ी व्यक्ति ही भगवती वारुणी की इतनी प्रशंसा कर सकता है, सुरा के दोषों से अवगत सज्जन तो इसकी बुराई ही करेगा।

3. भिक्षा मांग कर पेट भरना -- कापालिक -- सम्प्रदाय के अनुयायी "भगवान् आपका भला करे", "संसार के उपकार में लगे लोकनाथ शिव संसार का विनाश नहीं करते हैं।"<sup>4</sup> इन वाक्यों के उच्चारण के साथ कपालपटह बजाते<sup>5</sup> हुए भिक्षा मांगते थे।<sup>6</sup> भिक्षा कपाल<sup>7</sup> में ग्रहण करते थे। वे आदरपूर्वक लायी हुई भिक्षा के तिरस्कार को अधर्म मानते थे।<sup>8</sup>

4. ये नर-कपाल को जलपान, मदिरापान, भोजन तथा शयन के लिए (उपधान के रूप में) काम में लेते थे। कपाल के खो जाने पर कापालिक की वेदना निम्न शब्दों में देखी जा सकती है-- "जिस पवित्र पात्र ने जलपान या मदिरापान, भोजन तथा शयन में (उपधान-तकिया के रूप में) मेरा बहुत अधिक उपकार किया था। आज उसका अभाव अच्छे मित्र के वियोग के समान मुझे पीड़ा दे रहा है।"

भो : । कष्टम्,

"येन मम पानभोजनशयनेषु नितान्तमुपकृतं शुचिना ।  
तस्याद्य मां वियोगः सन्मित्रस्येव पीडयति ।"<sup>9</sup>

कपाल को धारण करने के कारण ही इस सम्प्रदाय के लोगों को कापालिक कहा जाता रहा, क्योंकि कपाली नामक पात्र का कपाल खो जाने पर वह विलाप करता है "मेरी सब तपस्या नष्ट हो गयी। अब मैं कैसे कपाली बनूंगा।"<sup>10</sup> कापालिक प्राणियों की हिंसा कर मांस-भक्षण करते थे।<sup>11</sup> आर.जी. भण्डारकर<sup>12</sup> ने कापालिकों की इच्छापूर्ति के छः उपाय बताये हैं --

1. नर-कपाल में भोजन करना,
2. मृत-शरीर की भस्म का शरीर पर लेप करना,
3. भस्म का भक्षण करना,
4. लगुड धारण करना,
5. सुरा-पात्र रखना तथा
6. सुरा-पात्र में स्थित देवता की पूजा करना।

शैव धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में पाशुपत सम्प्रदाय भी महत्त्वपूर्ण था। पशुपति शिव को मानने वाले पाशुपत कहलाये। पाशुपत सम्प्रदाय के अनुयायी शिव को ही आराध्यदेव मानकर पूजते थे।<sup>13</sup> संयम और सदाचार धर्म की मूल जड़ हैं, किन्तु पाशुपतों में इनका अभाव दृष्टिगोचर होता है। इनके कर्तव्य कर्म का क्रियात्मक स्वरूप बदल गया था, पाखण्ड और दुराचार अधिक मात्रा में पनपने लगे थे। ये धर्म की आड़ में समाज विरोधी कार्यों में प्रवृत्त हो

रहे थे तथा सुरा और सुन्दरियों<sup>14</sup> में मन रमाये, कामतृप्ति हेतु नीच व घृणित कार्य करने में संकोच नहीं करते थे।

### जैन-धर्म

तत्कालीन समाज में सभी धर्म विकासोन्मुख थे किन्तु इनमें बढ़ता सम्प्रदायवाद दुष्प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर हो रहा था। उस समय जैन-धर्म सम्भवतः दो सम्प्रदायों में विभक्त था, जिनमें से मैले-कुचैले वस्त्रों को धारण करने वाले "मलिनपटपरिधानादिभिः" के उल्लेख से "श्वेताम्बर-मत" की पुष्टि होती है। मत्तविलास में इस मत के अनुयायियों व तपश्चरणरत साधुओं के आचारगत सिद्धान्तों का भी उल्लेख है। वे सिद्धान्त अग्रलिखित हैं --

१. ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना,
२. सिर के एक-एक बालों का लोंच करना,
३. मल धारण करना,
४. स्नानादि से विरत रहना,
५. भोजन के समय को नियम में बाँधना अर्थात् रात्रि में भोजन नहीं करना,
६. मैल वस्त्रों को धारण करना।

कापालिक जैन-धर्म के उपर्युक्त आचारगत सिद्धान्तों की जमकर बुराई करता है, इन्हें पापी कहता है तथा इनकी निन्दा को अपने मुख से कहने लायक नहीं समझता है। इसमें कापालिक की सम्प्रदाय विशेष के प्रति द्वेष झलकता है। वह कहता है कि जैनी उपर्युक्त सिद्धान्तों से सर्वसाधारण को कष्ट दे रहे हैं। अतः निन्दित जैनियों के नामोच्चारण मात्र से मेरी जिह्वा अपवित्र हो गयी है।<sup>१५</sup>

जैनधर्म में सामाजिक व सांस्कृतिक बुराइयाँ उतनी नहीं दिखाई पड़ती, जितनी की शैव-धर्म के कापालिक व पाशुपत सम्प्रदाय में और कारणवादी बौद्धधर्म के मतावलम्बियों में। जैनाचार्य शरीर को अत्यधिक कष्ट देकर महावीर के उपदेशों का पालन करते थे। कठोर तप-साधना से मोक्ष का मार्ग तय करते थे। मत्तविलास प्रहसन में कहीं भी जैन-धर्म की समाज विरोधी प्रवृत्ति नहीं दिखाई गई है, इससे इस सत्य पर अधिक बल दिया जाता था।

### बौद्धधर्म

बौद्ध धर्म अवनति के पथ पर बढ़ रहा था। इसमें लोगों की आस्था समाप्त हो रही थी। शाक्यभिक्षु पथ-भ्रष्ट हो चुके थे। इनमें दुराचार अत्यधिक बढ़ गया था। प्राणी-मात्र के प्रति दया रखने का उपदेश देने वाले अहिंसाव्रती बौद्ध-भिक्षु मांस-भक्षण करने लगे थे। बौद्ध धर्म में व्याप्त विसंगतियों का असली चित्र शाक्यभिक्षु उद्घाटित करता है, उसका मानना है कि स्त्री-सहवास और मदिरापान का विधान अवश्य ही उसके धर्मग्रन्थों में था। किन्तु निरुत्साही, दुष्ट, वृद्ध बौद्धों ने हम तरुणों से द्वेषकर पिटक ग्रंथों में से स्त्री-सहवास व सुरापान को अलग कर दिया है, हमें उस अवशिष्ट मूल-ग्रन्थ को प्राप्त कर बौद्ध धर्म के उपदेशों के साथ इन

दो-- स्त्री-सहवास और मदिरापान को जोड़कर संसार में बुद्ध के उपदेशों का प्रचार करते हुए संघ का उपकार करना चाहिए।<sup>16</sup> सामाजिकों की दृष्टि से बचकर बौद्ध भिक्षु शराब पीते थे।<sup>17</sup> धन का लालच देकर, निम्नवर्ग की स्त्रियों से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर उनके साथ रमण (रति-क्रिया) में रत रहते थे --

तां क्षौरिकस्य दासी मम दयितां चीवरान्तदर्शितया ।  
आकर्षति काकण्या बहुशी गां ग्रासमुष्टयैव ॥<sup>18</sup>

अर्थात् - उस नाई की दासी को जो मेरी प्रिया है, चीवर के भीतर रखी हुई कौड़ी से अपनी ओर वैसे ही आकर्षित करना चाहता है जैसे कोई व्यक्ति मुट्ठी में लिए (घास) से गाय को आकर्षित करता है।

बौद्ध-धर्म के जन-कल्याणकारी मार्ग अर्थात् प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित थे--

1. आपत्ति में पड़े हुए की सेवा करना।<sup>19</sup>
2. जो वस्तु नहीं दी गई है उसे न लेना,
3. झूठ से अलग रहना,
4. ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना,
5. जीव हिंसा न करना,
6. असामयिक भोजन से अलग रहना,
7. बुद्धि की शरण में जाना -- "बुद्ध शरणं गच्छामि ॥"<sup>20</sup>

विभिन्न सम्प्रदायों में आचार तथा विचारगत मतभेद विद्यमान थे। धार्मिक-कर्मकाण्डों का प्रचार-प्रसार था। कर्मकाण्डों में धार्मिक पाखण्डों का बाहुल्य परिलक्षित होता है, जिसे कापालिक निम्न दृष्टि से देखता है-- "प्रिये, देखो, यह मधुशाला यज्ञस्थान की शोभा का अनुकरण कर रहा है क्योंकि यहाँ की ध्वजा का स्तम्भ यज्ञीय पशु को बाँधने के खूटे के रूप में है, सुरा ही सोमरस है, मतवाले पियक्कड़ ही पुरोहित हैं, घसक-- सुरापान का पात्र ही चम्मच का काम करता है, लोहे की छड़ में गुंघ कर आग में भुने हुए मांस आदि चीखना ही श्रेष्ठ हविष्य है, पियक्कड़ों का प्रलाप ही यजुर्वेद है और उनके गान सामवेद हैं, उदंग (जिसमें पीने वाले मदिरा पीते हैं) सुवा हैं और पीने की भूख ही अग्निदेव है, मद्यशाला का मालिक ही यजमान है।"<sup>21</sup> भिन्न सम्प्रदायी परस्पर एक दूसरे के नीति सिद्धान्तों की खिल्ली उड़ाया करते थे। बौद्ध धर्म के प्रणेता भगवान् बुद्ध को कापालिक चोर कहता है और शाक्यभिक्षु द्वारा "नमो बुद्धाय" कहने पर, उसे "खरपटाय नमः" कहने को कहता है, वह खरपट (चोर) से भी बुद्ध को बढ़ा-चढ़ा मानता है।<sup>22</sup> इसका कारण बताता है कि बुद्ध ने "वेदान्तशास्त्र और महाभारत से अर्थों को ग्रहणकर ब्राह्मणों के देखते-देखते ही अपने कोश को भर लिया है, अर्थात् जिस तरह कोई व्यक्ति डाका डालकर किसी से धन को ग्रहण कर मालदार बन जाता है उसी प्रकार बुद्ध ने भी दूसरों की शब्दार्थ राशि को चुराकर ग्रन्थ-राशि को इकट्ठा कर लिया।"<sup>23</sup>



शैव धर्मावलम्बी बौद्धों पर भी हावी थे, इनमें दया, परोपकार, त्याग, तप, अहिंसा की भावना लुप्त होती जा रही थी। सामाजिक बुराइयों से ग्रसित संकुचित - समाज असाध्य रोग से पीड़ित दरिद्र रोगी के समान संज्ञाशून्य हो गया था। लोग लोभी, पाखण्डी, धूर्त तथा चोर होते जा रहे थे। न्याय व्यवस्था चरमरा गयी थी। न्यायालयों की निष्पक्षता पर प्रश्न अंकित थे। न्यायाधीशों का चरित्र सन्दिग्ध था। निर्दोष व्यक्ति लूटा जाने पर भी न्यायालय के शरण में जाना नहीं चाहता था। रिश्वत व धूसखोरी बहुत अधिक बढ़ गयी थी। अतः जन सामान्य के लिए न्यायालय के पट बन्द हो चुके थे। इस पर धनी-मानी व्यक्तियों का प्रभुत्व था। द्रष्टव्य-- पाशुपत -- मैं इस व्यवहार का निपटारा नहीं कर सकता। इसलिए हम न्यायालय में जायेंगे।

देवसोमा -- "महाराज ऐसी बात है तो कपाल को नमस्कार अर्थात् ऐसे कपाल की मुझे आवश्यकता नहीं है। यह शाक्यभिक्षु अनेक विहारों से धन का संग्रह करने वाला है तथा न्यायालय के कर्मचारियों के मुख को धूस-रिश्वत देकर बन्द कर देने के लिए समर्थ है। लेकिन हम जैसों के लिए जो साप के केचुल मात्र विभव वाले दरिद्र कापालिक की परिचारिकाएँ हैं, न्यायालय में प्रवेश पाने के लिए धन कहाँ है।"<sup>24</sup>

### निष्कर्ष

इस प्रकार मत्तविलास में विभिन्न धर्मों की चर्चा हुई है, इस समय शैव कापालिक, पाशुपत, बौद्ध तथा कर्मकण्डियों में मिथ्या आडम्बर घर कर गये थे। एक मात्र जैनधर्म मानव धर्म की व्याख्या करता हुआ अपना स्वतन्त्र स्थान बनाये हुए था। इस धर्म ने मनसा, वाचा और कर्मणा स्वधर्म पालन में शुद्ध आचार-विचारों को अत्यन्त महत्त्व दिया है।

- 
- दिनेश चन्द्र चौबीसा, कनिष्ठ शोध-अध्येता (यू.जी.सी.), संस्कृत विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)।

# सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. आस्थाय प्रयतो महाव्रतमिदं" बालेन्दुघुडामणिः ।। १६ ।। पृ. २६
२. पेया सुरा प्रियतमामुखेभीक्षितव्यं ग्राह्यः स्वभावललितो विकृतश्चवेषः ।  
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः - १७, पृ. ८
३. कपाली - एषा भगवती वारुणी चषकेष्वार्वजिता प्रत्यादेशो मण्डनानाम् अनुनयः  
प्रणयकुपितानां, पराक्रमोयौवनस्य, जीवितं विभ्रमाणाम्, पृ. १२
४. देवसोमा - नहि लोकोपकारनिरता लोकनाथो लोकं विनाशयति, पृ. १३
५. उभौ कपोलपटहं कुरन्तः, पृ. १३
६. कपाली - भवति ! भिक्षां देहि, पृ. १३
७. एष प्रतिगृच्छामि, प्रिये ! क्वमे कपालम्, पृ. १३
८. देवसोमा - भगवन् ! अधर्मः खल्वेष आदरोपनीताया भिक्षाया अप्रतिग्रहः, पृ. १४
९. मत्तविलासम् - श्लोक सं. ११, पृ. १४
१०. कपाली- कथमिहापि न दृश्यते । ( विषादं रुययित्वा ) भो भो माहेश्वरा !  
माहेश्वराः । अस्मदीयं भिक्षाभाजनमिह भवद्भिः किं दृष्टम् ।  
किमाहुर्भवन्तः - न खलु वयं पश्याम इति । हा हतोऽस्मि ।  
भ्रष्टं मे तपः । केनाहमिदानीं कपाली भविष्यामि ।
११. कपाली - प्रिये ! तर्क्यामि शून्यमांसगर्भत्वाच्छुना वा शाक्यभिक्षुणा वेति, पृ. १५
१२. वैष्णव, शैव एवं अन्य धर्म, पृ. १६४
१३. पाशुपतः - यावदहमिदानीमेव सुहृद्भ्युदयकृतमानन्दं पुरोध्याय भगवतः पूर्वस्थलीनिवासिनो  
धूमवेल्लां प्रतिपालयामि ।
१४. मत्तविलासम्, श्लोक संख्या - १४, पृ. २५
१५. कपाली - न खलु ते पापा आक्षेपमुखेनाटयभिधातुमर्हन्ति, ये ब्रह्मचर्य-केशनिलोत्तन -  
मलधारण-भोजनवेल्लानियम-मालिन-पटपरिधानादिभिः प्राणिनः परिवर्त्तेशयन्ति ।  
तदिदानीं कुतीर्थसंकीर्तनोपहतां जिह्वां सुरया प्रक्षालयितुमिच्छामि, पृ. ६
१६. शाक्यभिक्षुः - यावदिदानीं राजविहारमेव गच्छामि । भोः ! परमकारुणिकेन भगवता  
तथागतेन प्रसादेषुवासः, सुविहितशय्येषु पर्यङ्केषु शयने, पूर्वाद्भोभोजनम्, अवराहेन  
मुरसानिपानकानि, प चसगन्धोपहितं ताम्बुलम्,  
श्लक्ष्णवसनपरिधानमित्येतैरुपदेशैर्भिक्षुसङ्घः, धस्यानुग्रहं कुर्वता किन्तु खलु स्त्रीपरिग्रहः  
सुरापान-विधानं च न दृष्टम् । अथवा कथं सर्वज्ञ एवन्न पश्यसि । अवश्यमेव तै  
दुष्टबुद्धस्थविरैरिहत्साहेरस्माकं तरुणजनानां मत्सरेण विदकपुस्तकेषु स्त्री  
सुरापानविधानानि परमृष्टानीति तर्क्यामि । कुतो नु खल्वविनष्टमूलपाठं समासादयेयम् ।  
ततः सम्पूर्णं बुद्धवचनं लोके प्रकाशयन् संघोपकारं करिष्यामि, पृ. १६-१७
१७. शाक्यभिक्षुः ( आत्मगतम् ) सुखोपनतोऽभ्युदयः । एतावान् दोषः महाजनेन द्रक्ष्यति, पृ. २१

१८. मत्तविलासम् - श्लोक सं. १४, पृ. २५
१९. शाक्यभिक्षुः - आ उपासक ! मा मैवम् । धर्मः खल्वस्माकं विषभपतितानुकम्पा, पृ. २४
२०. शाक्यभिक्षु - भगवान् ! त्वमत्येव मणसि । अदत्तादानाद्विरमणं शिक्षापदम् ।  
अब्रह्मचर्याद्विरमणं शिक्षापदम् । प्राणातिपाताद्विरमणं शिक्षापदम् । अकालभोजनाद्विरमणं  
शिक्षापदम् । अस्माकं बुद्धधर्मं शरणं गच्छामि, पृ. २६
२१. कपाली - प्रिये । पश्य पश्य । एष सुरापणो यज्ञवाटविभूतिमनुकरोति ।  
अत्र हि ध्वजस्तम्भो युपः सुरासोमः, शौण्डा ऋत्विजः,  
घषकाश्चमसाः, शूल्यमांसप्रभृतय उपदंशा हर्विर्विशेषाः,  
मत्तवचनानि यजूषि, गीतानि सामानि, उदङ्काः सुवाः,  
तर्षोऽग्निः, सुरापणाधिपतिर्यजमानः, पृ. १२
२२. शाक्यभिक्षुः नमो बुद्धाय ।  
कपाली - नमः खरपटायेति वक्तव्यं, येन चारेशास्त्रं प्रणीतम् ।  
अथवा खरपटादप्यस्मिन्नधिकारे बुद्ध एवाधिकः, पृ. २०
२३. वेदान्तेभ्यो गृहीत्वार्थान् यो महाभारतादपि ।  
विप्राणां भिषतामेव कृतवान् कोशसञ्चयम् - १२, पृ. २०
२४. पाशुपतः - नामं व्यवहारो मया परिच्छेतुं शक्यते । तदधिकरणमेव यास्यामः ।  
देवसोमाः-भगवन् ! यद्येवं, नमः कपालाय ।  
पाशुपतः - कोऽभिप्रायः  
देवसोमाः - एष पुनरनेकविहारभोगसमधिगतवित्तसम्ययो यथा,  
काममधिकरणकारुणिकानां मुखानि पूरयितं पारयति । अस्माकं पुनरहिचर्ममतिमात्रविभस्व  
दरिद्रकापालिकस्य परिचारिकाणां कोऽत्रविभवोऽधिकरणं प्रवेष्टुम्, पृ. ३१

# सार्धपूर्णमागच्छ का इतिहास

- शिवप्रसाद

निर्गन्थ परम्परा के श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अन्तर्गत चन्द्रकुल [ बाद में चन्द्रगच्छ ] की एक शाखा वडगच्छ या बृहद्गच्छ से वि.सं. 1149 या 1159 में उद्भूत पूर्णिमागच्छ या पूर्णिमापक्ष से भी समय-समय पर विभिन्न उपशाखायें अस्तित्व में आयीं, इनमें सार्धपूर्णमागच्छ भी एक है। विभिन्न पट्टावलियों में पूर्णिमागच्छीय आचार्य सुमतिरसिंहसूरि द्वारा वि.सं.1236/ईस्वी सन् 1180 में अणहिल्लपुरपत्तन में इस शाखा का उदय माना गया है। विवरणानुसार श्वेताम्बर श्रमणसंघ में विभिन्न मतभेदों के कारण निरन्तर विभाजन की प्रक्रिया से खिन्न होकर चौलुक्यनरेश कुमारपाल [ वि.सं. 1199-1229/ईस्वी सन् 1143-1173 ] ने नये-नये गच्छों के मुनिजनों का अपने राज्य में प्रवेश निषिद्ध करा दिया। वि.सं. 1236 में पूर्णिमागच्छीय आचार्य सुमतिरसूरि विहार करते हुए पाटन पहुंचे। वहां श्रावकों द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने अपने को पूर्णिमागच्छीय नहीं अपितु सार्धपूर्णमागच्छीय बतलाकर वहां विहार की अनुमति प्राप्त कर ली। इसी समय से सुमतिरसूरि की शिष्य परम्परा सार्धपूर्णमागच्छीय कहलायी। इस गच्छ के मुनिजन भी पूर्णिमागच्छीय मुनिजनों की भांति प्रतिमाप्रतिष्ठापक न होकर मात्र उपदेशक ही रहे हैं किन्तु ये संडेरगच्छ, भावदेवाचार्यगच्छ, राजगच्छ, चैत्रगच्छ, नाणकीयगच्छ, वडगच्छ आदि के मुनिजनों की भांति चतुर्दशी को पाक्षिक पर्व मनाते थे<sup>2</sup>। यद्यपि इस गच्छ का उदय वि.सं. 1236 में हुआ माना जाता है, किन्तु इससे सम्बद्ध जो भी साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य आज मिलते हैं वे वि.सं. की 14वीं शती के पूर्व के नहीं हैं। अध्ययन की सुविधा के लिये सर्वप्रथम साहित्यिक और तत्पश्चात् अभिलेखीय साक्ष्यों का विवरण प्रस्तुत है :

1. शांतिनाथचरित -- वि.सं. 1412 में लिपिबद्ध की गयी इस कृति की प्रशस्ति<sup>3</sup> में सार्धपूर्णमागच्छ के आचार्य अभयचन्द्रसूरि का उल्लेख है। उक्त आचार्य किनके शिष्य थे, यह बात उक्त प्रशस्ति से ज्ञात नहीं होती। चूंकि सार्धपूर्णमागच्छ से सम्बद्ध यह सबसे प्राचीन उपलब्ध साहित्यिक साक्ष्य है, इसलिये महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

2. रत्नाकरावतारिकाटिप्पण -- वडगच्छीय आचार्य वादिदेवसूरि की प्रसिद्ध कृति प्रमाणनयतत्त्वावलोक [ रचनाकाल वि.सं. 1181/ईस्वी सन् 1125 ] पर सार्धपूर्णमागच्छीय गुणचन्द्रसूरि के शिष्य ज्ञानचन्द्रसूरि ने मल्लधारगच्छीय राजशेखरसूरि के निर्देश पर रत्नाकरावतारिकाटिप्पण [ रचनाकाल वि.सं. की 15वीं शती के प्रथम या द्वितीय दशक के आसपास ] की रचना की<sup>4</sup>। यह बात उक्त कृति की प्रशस्ति से ज्ञात होती है।

3. न्यायावतारवृत्ति की दाता प्रशस्ति-- आचार्य सिद्धसेन दिवाकर प्रणीत न्यायावतारसूत्र पर निर्वृत्तिकुलीन सिद्धर्षि द्वारा रचित वृत्ति [ रचनाकाल-विक्रम सम्वत् की 10वीं शती के तृतीय चरण के आस-पास ] की वि.सं. 1453 में लिपिबद्ध की गयी एक प्रति की दाता प्रशस्ति<sup>5</sup> में सार्धपूर्णिमागच्छीय अंभयचन्द्रसूरि के शिष्य रामचन्द्रसूरि का उल्लेख है। इस प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि उक्त प्रति रामचन्द्रसूरि के पठनार्थ लिपिबद्ध करायी गयी थी। इन्हीं रामचन्द्रसूरि ने वि.सं. 1590/ईस्वी सन् 1534 में विक्रमचरित<sup>6</sup> की रचना की।

4. सम्यक्त्वरत्नमहोदधि वृत्ति की दाताप्रशस्ति -- पूर्णिमागच्छ के प्रवर्तक आचार्य चन्द्रप्रभसूरि कृत सम्यक्त्वरत्नमहोदधि अपरनाम दर्शनशुद्धि [ रचनाकाल-विक्रम सम्वत् की 12वीं शती के मध्य के आस-पास ] पर पूर्णिमागच्छ के ही चक्रेश्वरसूरि और तिलकाचार्य द्वारा रची गयी वृत्ति [ रचनाकाल-विक्रम सम्वत् की 13वीं शती के मध्य के आस-पास ] की वि.सं. 1504 में लिपिबद्ध की गयी प्रति की दाताप्रशस्ति<sup>7</sup> में सार्धपूर्णिमागच्छ के पुण्यप्रभसूरि के शिष्य जयसिंहसूरि का उल्लेख है। उक्त प्रशस्ति से इस गच्छ के किन्हीं अन्य मुनिजनों के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।

5. आरामशोभाचौपाइ -- यह कृति सार्धपूर्णिमागच्छ के विजयचन्द्रसूरि के शिष्य [ श्रावक ? ] कीरति द्वारा वि.सं. 1535/ईस्वी सन् 1479 में रची गयी है। ग्रन्थ की प्रशस्ति<sup>8</sup> के अर्न्तगत रचनाकार ने अपनी गुरु-परम्परा दी है, जो इस प्रकार है :

रामचन्द्रसूरि

|

पुण्यचन्द्रसूरि

|

विजयचन्द्रसूरि

|

कीरति [ वि.सं. 1535/ई.सन् 1479 में

आरामशोभाचौपाइ के रचनाकार ]

6. आवश्यकनिर्युक्तिबालावबोध की प्रतिलिपि की प्रशस्ति -- सार्धपूर्णिमागच्छीय विद्याचन्द्रसूरि ने वि.सं. 1610 में उक्त कृति की प्रतिलिपि करायी। इसकी दाताप्रशस्ति<sup>9</sup> में उनकी गुरु-परम्परा का विवरण मिलता है, जो इस प्रकार है :

उदयचन्द्रसूरि

|

मुनिचन्द्रसूरि

|

विद्याचन्द्रसूरि [ वि.सं. 1610 में इनके उपदेश से

आवश्यकनिर्युक्ति बालावबोध की

प्रतिलिपि की गयी ]

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है इस गच्छ के विभिन्न मुनिजनों की प्रेरणा से प्रतिष्ठापित वि.सं. 1331 से वि.सं. 1624 तक की 50 से अधिक जिनप्रतिमायें मिलती हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :

क्र. सं. प्रकिष्ठावर्ष	तिथि/मिति	लेख में उल्लिखित आचार्य का नाम	प्रतिमा/लेख/ स्तम्भलेख	प्रतिष्ठा स्थान	संदर्भग्रन्थ
1. 1331	वैशाखसुदि 6 शुक्रवार	देवेन्द्रसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख लेख	आबू	मुनिजयन्तविजय-संपा. अर्बुदप्राचीन जैनलेख संदीह लेखांक 530 वहीं, लेखांक 579
2. 1421	वैशाखवदि शनिवार	धर्मचन्द्रसूरि	महावीर की प्रतिमा का लेख	"	
3. 1424	आषाढ सुदि 6 गुरुवार	अभयचन्द्रसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ जिनालय, कोचरो का मुहल्ला बीकानेर	आरचन्द नाहटा-संपा. बीकानेरजैन लेखसंग्रह लेखांक 1628 वहीं, लेखांक 464
4. 1424	"	धर्मचन्द्रसूरि के पट्टधार धर्मतिलकसूरि	"	चिन्तामणि- जिनालय, बीकानेर	वहीं, लेखांक 485
5. 1428	वैशाखवदि 2 सोमवार	"	"	"	
6. 1432	फाल्गुनसुदि 2 शुक्रवार	"	आदिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	सुमतिनाथ जिनालय, जयपुर	विनयसागर संपा. - प्रतिष्ठालेखसंग्रह लेखांक 158
7. 1432	-	"	चिन्तामणि- जिनालय, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त लेखांक 499	

8.	1433	वैशाखसुदि 9 शनिवार	"	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	धर्मनाथ देरासर, अहमदाबाद	मुनिबुद्धिसागर-संपा. जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह भाग 1, संग्रह लेखांक 1127
9.	1433	वैशाख सुदि 9 शनिवार	"	चिन्तामणि जिनालय, पार्श्वनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	नाहटा, पूर्वोक्त- बीकानेर	लेखांक 505 वहीं, लेखांक 513
10.	1434	वैशाख वदि 11 मंगलवार	"	पद्मप्रभ की प्रतिमा का लेख	विमलवसही, देहरी क्रमांक 18, आबू	मुनि जयन्तविजय- पूर्वोक्त, लेखांक 58
11.	1439	पौष वदि 9 रविवार	"	सुमतिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	महावीर जिनालय, डागों का मुहल्ला, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त- लेखांक 1533
12.	1450	माघ वदि 9 सोमवार	"	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर	वहीं, लेखांक 827
13.	-	... सुदि मंगलवार	"	अमयचन्द्रसूरि	"	वहीं, लेखांक 583
14.	1458	वैशाख वदि 2 बुधवार	"	वैशाख सुदि 3	गौड़ीपार्श्वनाथ	वहीं, लेखांक 1938



सोमवार	जिनालय, गोगा दरवाजा, बीकानेर	मुनिविशाल विजय संपा. राधनपुर प्रतिमालेख संग्रह, लेखांक 97
16. 1471	माह [ माघ ] सुदि 5 शनिवार	नेमिनाथ जिनालय, गेला सेठ की शेरी, राधनपुर
17. 1483	वैशाख सुदि 5 गुरुवार	चिन्तामणि जिनालय, बीकानेर
18. 1486	चैत्र सुदि 14 बुधवार	देवकुलिका स्थित लेख, आबू
19. 1493	फाल्गुन सुदि 3 शुक्रवार	पार्श्वनाथजिनालय, बीकानेर
20. 1502	माघ वदि 2 रविवार	चन्द्रप्रभजिनालय, सांगानेर
	की प्रतिमा का लेख	मुनिजयन्तविजय, पूर्वोक्त, लेखांक 342
	अभिनन्दननाथ की धातु की चौबीसी का लेख	नाहटा, पूर्वोक्त- लेखांक 722
	मुनिमुक्त की प्रतिमा का लेख	
	पासचन्द्रसूरि	
	धर्मतिलकसूरि के पट्टधर हीराणंदसूरि अभयचन्द्रसूरि के पट्टधर रामचन्द्रसूरि के पट्टधर मुनिचन्द्राणि तथा शीलचन्द्र, नयसार, विनयरल्ल आदि	
	शीतलनाथ की प्रतिमा का लेख	नाहटा, पूर्वोक्त- लेखांक 1601
	शीतलनाथ की प्रतिमा का लेख	विनयसागर, पूर्वोक्त, लेखांक 359
	शीतलनाथ की पंचतीर्थी	

21.	1502	"	"	आदिनाथ जिलालय, करमदी	वहीं, लेखांक 361
22.	1504	फाल्गुन सुदि 9 सोमवार	रामचन्द्रसूरि के पट्टधार	अजितनाथ जिनालय, तारंगा	पुनचन्द नाहर, संपा. जैनलेखसंग्रह, भाग 2 लेखांक 1732
23.	1507	तिथिविहीन	पुण्यचन्द्रसूरि	चिन्तामणि जिना., बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त- लेखांक 909
24.	1508	ज्येष्ठ सुदि 5 रविवार	रामचन्द्रसूरि के पट्टधार	पार्श्वनाथ जिना., बीकानेर	वहीं, लेखांक 1625
25.	1509	पौष वदि 5 रविवार	पुण्यचन्द्रसूरि सागरचन्द्रसूरि	शामला पार्श्वनाथ जिनालय, इमोइ	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग 1, लेखांक 7
26.	-	तिथि/मिति विहीन	के पट्टधार सोमचन्द्रसूरि सागरचन्द्रसूरि	आदिनाथ जिना., थराद	दौलतसिंह लोढ़ा- संपा. श्रीप्रतिमालेखसंग्रह लेखांक 226
27.	1509	माघ सुदि 10 शनिवार	सोमचन्द्रसूरि रामचन्द्रसूरि के पट्टधार पुण्यचन्द्रसूरि	शांतिनाथ जिना., कनारसोनो पाडो, पाटन	मुनि बुद्धिसागर- पूर्वोक्त, भाग 1, लेखांक 323

१६१२  
काल्पानु वदि 1  
रविवार

पुण्यचन्द्रसूरि

धर्मनाथ  
की प्रतिमा  
का लेख

जैनमन्दिर,  
ऊंझा

वहीं, भाग 1,  
लेखांक 149

29. 1513  
वैशाख सुदि 10  
बुधवार

गुणचन्द्रसूरि  
की प्रतिमा  
का लेख

चन्द्रप्रभ जिना.,  
कालू, बीकानेर

नाहटा, पूर्वोक्त-  
लेखांक 2514

30. 1513  
ज्येष्ठ वदि 7  
मंगलवार

पुण्यचन्द्रसूरि  
के पट्टधार

शीतलनाथ  
की प्रतिमा

जैनमंदिर,  
ऊंझा

मुनि बुद्धिसागर,  
पूर्वोक्त, भाग 1  
लेखांक 168

31. 1516  
माघ वदि 8  
सोमवार

विजयचन्द्रसूरि  
हीरानन्दसूरि  
के पट्टधार

वासुपुज्य  
की प्रतिमा

चिन्तामणि जिना.,  
बीकानेर

नाहटा, पूर्वोक्त,  
लेखांक 998

32. 1518  
आषाढ सुदि 10  
बुधवार

देवचन्द्रसूरि  
"

अजितनाथ  
की प्रतिमा

शातिनाथ जिना.,  
नाहटों में, बीकानेर

वहीं, लेखांक 1828

33. 1520  
वैशाख वदि 8  
शुक्रवार

पुण्यचन्द्रसूरि

पार्श्वनाथ  
की प्रतिमा

पद्मप्रभ जिना.,  
पन्नाबाई का

वहीं, लेखांक 1879

34. 1521  
वैशाख वदि 8  
शुक्रवार

रामचन्द्रसूरि  
के पट्टधार  
चन्द्रसूरि

पद्मप्रभ  
की प्रतिमा  
का लेख

उपाश्रय, बीकानेर  
पंचायतीमन्दिर,  
सराफा बाजार,  
लस्कर, ग्वालियर

नाहर, पूर्वोक्त,  
भाग 2  
लेखांक 1378

35.	1522	माघ वदि 1 गुरुवार	पुण्यचन्द्रसूरि के पट्टघर	कुन्धुनाथ की प्रतिमा का लेख	जगतसेठ का मंदिर, महिमापुर, मुर्शिदाबाद	नाहर, पूर्वोक्त- भाग 1 लेखांक 72
36.	1524	आषाढ सुदि 10 शुक्रवार	विजयचन्द्रसूरि पुण्यचन्द्रसूरि	श्रेयसनाथ की प्रतिमा का लेख	जैनमंदिर, सौदागर पोल, अहमदाबाद	मुनि बुद्धिसागर- पूर्वोक्त, भाग 1 लेखांक 843
37.	1528	आषाढ सुदि 6 रविवार	श्रीसूरि	धर्मनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिना., शांतिनाथ पोल, अहमदाबाद	वहीं, भाग 1 लेखांक 1354
38.	1528	पौष वदि 5	पुण्यचन्द्रसूरि के पट्टघर	कुन्धुनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	यतिश्यामलाल का उपाश्रय, जयपुर	विनयसागर, पूर्वोक्त लेखांक 709
39.	1528	माघ वदि 5 गुरुवार	विजयचन्द्रसूरि "	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिना., बालुघर, मुर्शिदाबाद	नाहर, पूर्वोक्त- भाग 1, लेखांक 35
40.	1533	माघ सुदि 5	जयशेखरसूरि	आदिनाथ की प्रतिमा का लेख	पंचायती जैन मंदिर, सराफा बाजार, लस्कर, ग्वालियर	वहीं, भाग 2 लेखांक 1409
41.	1533	माघ सुदि 13 सोमवार	"	विमलनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	"	वहीं, भाग 2 लेखांक 1381

42. 1533	वैशाख सुदि 10 सोमवार	सिद्धसूरि	"	शातिनाथ जिना., रतलाम	विनयसागर, पूर्वोक्त- लेखांक 765
43. 1537	वैशाख सुदि 9 सोमवार	उद्येठ सुदि 9 सोमवार	वासुपूज्य की प्रतिमा का लेख	जैनमंदिर, सौदागर पोल, अहमदाबाद	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग 1, लेखांक 844
44. 1544	वैशाख सुदि 5 रविवार	विजयचन्द्रसूरि के पट्टधर	शीतलनाथ की प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, जामनगर	विजयधर्मसूरि - संपा. प्राचीनलेखसंग्रह लेखांक 492
45. 1550	वैशाख सुदि 13 शुक्रवार	उद्येठसूरि पुण्यरत्नसूरि	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ देरासर, अहमदाबाद	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त- भाग 1, लेखांक 1098
46. 1553	पौष वदि 10 गुरुवार	विजयचन्द्रसूरि के पट्टधर	विमलनाथ की प्रतिमा का लेख	सीमंधार स्वामी का मंदिर, अहमदाबाद	वहीं, भाग 1, लेखांक 1200
47. 1553	वैशाख सुदि 5 सोमवार	उद्येठसूरि के पट्टधर	संभवनाथ की धातु की प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिना., आदिनाथ खडकी, राधनपुर	मुनि विशालविजय- पूर्वोक्त, लेखांक 315
48. 1572		मुनिराजसूरि	श्रेयासनाथ की धातु की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय, बीजापुर	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-1, लेखांक 429

49.	1575	फाल्गुन वदि 4 गुरूवार	मुनिचन्द्रसूरि	"	अक्षयसिंह का देरासर, जैसलमेर	नाहर, पूर्वोक्त, भाग 3, लेखांक 2469
50.	1579	वैशाख सुदि 12 रविवार	उदयचन्द्रसूरि के पट्टधर	आदिनाथ की चौबीसी प्रतिमा का लेख	सेठ धीरशाह का देरासर, जैसलमेर	वहीं, भाग 3 लेखांक 2457
51.	1596	वैशाख सुदि 9	मुनिचन्द्रसूरि मुनिचन्द्रसूरि के पट्टधर	अरनाथ की प्रतिमा का लेख	धर्मनाथ देरासर, अहमदाबाद	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त- भाग 1, लेखांक 1118
52.	1610	फाल्गुन वदि 2	विद्याचन्द्रसूरि विद्याचन्द्रसूरि	शीतलनाथ की धातु की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, राधनपुर	मुनिविशालविजय, पूर्वोक्त- लेखांक 349
53.	1624	माघ सुदि 1 सोमवार	"	वासुपूज्य की धातु की प्रतिमा का लेख	लुआणा चैत्य, थराद	लोढा, पूर्वोक्त- लेखांक 362

उक्त अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के कुछ मुनिजनों के पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित होते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है :

1. धर्मचन्द्रसूरि और उनके पट्टधर धर्मतिलकसूरि धर्मचन्द्रसूरि की प्रेरणा से प्रतिष्ठापित 1 प्रतिमा मिली है। जिस पर वि. सं. 1421 का लेख उत्कीर्ण है। इनके पट्टधर धर्मतिलकसूरि का 9 जिनप्रतिमाओं पर नाम मिलता है। ये प्रतिमायें वि. सं. 1424 से वि. सं. 1450 के मध्य प्रतिष्ठापित की गयी थीं। इसके अतिरिक्त एक ऐसी भी प्रतिमा मिली है, जिस पर प्रतिष्ठावर्ष नहीं दिया गया है।
2. धर्मतिलकसूरि के पट्टधर हीराणंदसूरि वि. सं. 1483 और 1502 में प्रतिष्ठापित 3 प्रतिमाओं पर इनका नाम मिलता है।
3. हीराणंदसूरि के पट्टधर देवचन्द्रसूरि इनकी प्रेरणा से प्रतिष्ठापित 2 प्रतिमायें [वि. सं. 1516 और वि. सं. 1518] मिली हैं।
4. अभयचन्द्रसूरि और उनके पट्टधर रामचन्द्रसूरि अभयचन्द्रसूरि की प्रेरणा से प्रतिष्ठापित 3 प्रतिमाओं [वि. सं. 1424, 1458 और 1466] का उल्लेख मिलता है। इनके पट्टधर रामचन्द्रसूरि का नाम वि. सं. 1493 के प्रतिमालेख में मिलता है।
5. रामचन्द्रसूरि के पट्टधर पुण्यचन्द्रसूरि इनकी प्रेरणा से प्रतिष्ठापित 5 प्रतिमायें मिली हैं जिन पर वि. सं. 1504, 1507, 1508, 1520 और 1524 के लेख उत्कीर्ण हैं।
6. रामचन्द्रसूरि के शिष्य मुनि चन्द्रसूरि आबू स्थित लूणवसही की एक देवकुलिका पर उत्कीर्ण वि. सं. 1486 के लेख में मुनिचन्द्रसूरि का नाम मिलता है।
7. रामचन्द्रसूरि के शिष्य चन्द्रसूरि पद्मप्रभ की वि. सं. 1521 में प्रतिष्ठापित प्रतिमा पर चन्द्रसूरि का नाम मिलता है।
8. पुण्यचन्द्रसूरि के पट्टधर विजयचन्द्रसूरि वि. सं. 1513, 1522 और 1528 में प्रतिष्ठापित 3 प्रतिमाओं पर विजयचन्द्रसूरि का नाम मिलता है।
9. विजयचन्द्रसूरि के पट्टधर उदयचन्द्रसूरि इनकी प्रेरणा से प्रतिष्ठापित 2 प्रतिमायें मिली हैं, जो वि. सं. 1550 और 1553 की हैं।
10. उदयचन्द्रसूरि के पट्टधर मुनिराजसूरि वि. सं. 1572 में प्रतिष्ठापित श्रेयासनाथ की धातुप्रतिमा पर इनका नाम मिलता है।
11. उदयचन्द्रसूरि के पट्टधर मुनिचन्द्रसूरि वि. सं. 1575 और 1579 में प्रतिष्ठापित 2 जिन प्रतिमाओं पर इनका नाम मिलता है।
12. मुनिचन्द्रसूरि के पट्टधर विद्याचन्द्रसूरि इनकी प्रेरणा से प्रतिष्ठापित 3 जिन प्रतिमाओं का उल्लेख पीछे आ चुका है, ये वि. सं. 1596, 1610 और 1624 की हैं।

उक्त साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के मुनिजनों की गुरु-परम्परा की दो तालिकायें जती हैं :

## तालिका - 1

?

|

धर्मचन्द्रसूरि [ वि. सं. 1421 ] 1 प्रतिमालेख

|

धर्मतिलकसूरि [ वि. सं. 1424-1450 ] 7 प्रतिमालेख

|

हीराणंदसूरि [ वि. सं. 1483-1502 ] 2 प्रतिमालेख

|

देवचन्द्रसूरि [ वि. सं. 1516-1518 ] 2 प्रतिमालेख

## तालिका - 2

?

|

अभयचन्द्रसूरि [ वि. सं. 1424-1466 ] 3 प्रतिमालेख

|

रामचन्द्रसूरि [ वि. सं. 1493 ] 1 प्रतिमालेख

---

पुण्यधर्मसूरि [ वि. सं. 1504-1524 ] 6 प्रतिमालेख	मुनिचन्द्रसूरि [ प्रथम ] [ वि. सं. 1486 ] 1 प्रतिमालेख	चन्द्रसूरि [ वि. सं. 1521 ] 1 प्रतिमालेख
--	--	--

|

विजयचन्द्रसूरि [ वि. सं. 1513-1528 ]  
3 प्रतिमालेख

|

उदयचन्द्रसूरि [ वि. सं. 1550-1553 ]  
2 प्रतिमालेख

---

मुनिराजसूरि	मुनिचन्द्रसूरि [ द्वितीय ] [ वि. सं. 1575-1579 ] 2 प्रतिमालेख
-------------	---

|

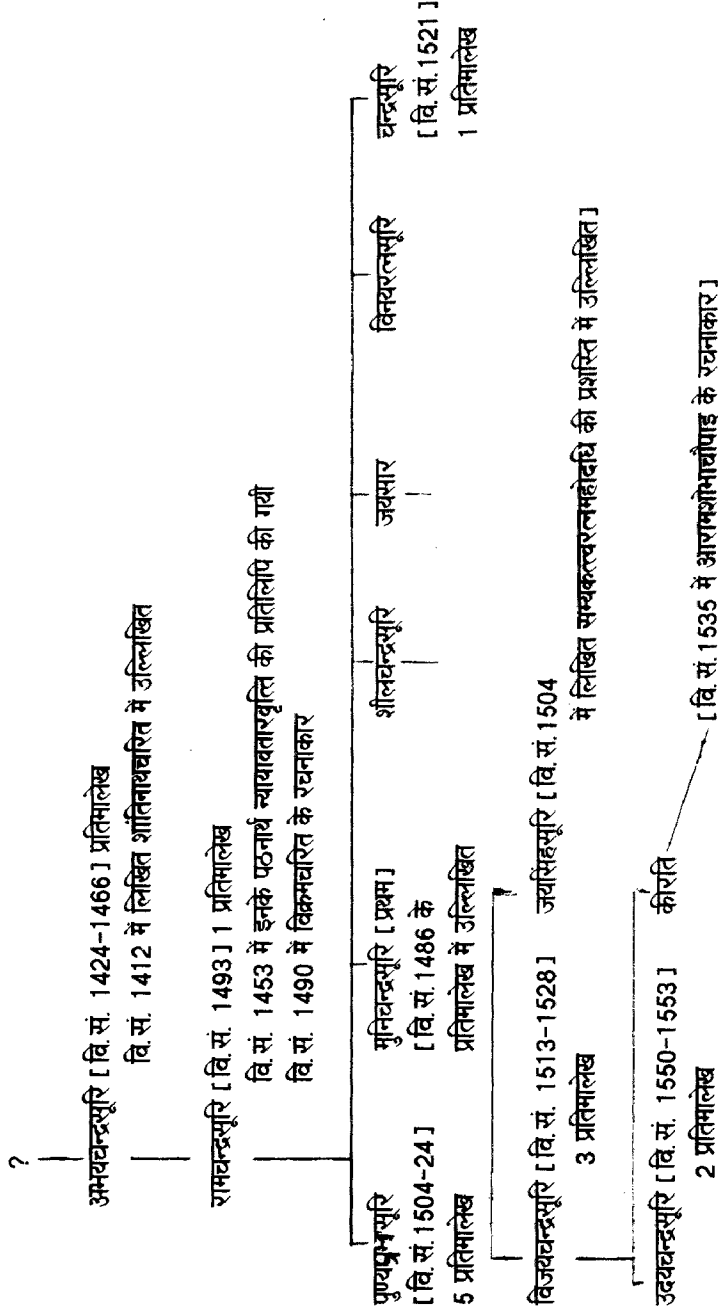
विद्याचन्द्रसूरि  
[ वि. सं. 1596-1624 ]



अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर निर्मित उक्त दोनों तालिकाओं में परस्पर समायोजन सम्भव नहीं होता, किन्तु द्वितीय तालिका के अभयचन्द्रसूरि, रामचन्द्र, विजयचन्द्रसूरि, उदयचन्द्रसूरि आदि मुनिजनों के नाम सार्धपूर्णमागच्छ के साहित्यिक साक्ष्यों में भी आ चुके हैं, इस प्रकार साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के मुनिजनों के गुरु-शिष्य परम्परा की एक बड़ी तालिका निर्मित होती है, जो इस प्रकार है :

## तालिका -3

साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर निर्मित सार्धपूर्णभागच्छ के मुनिजनों का विद्यावेशवृक्ष



मुनिराजसूरि

[वि. सं. 1592] 1 प्रतिमालेख

मुनिचन्द्रसूरि [द्वितीय]

[वि. सं. 1575-1579] 2 प्रतिमालेख

विद्याचन्द्रसूरि

[वि. सं. 1596-1624] 3 प्रतिमालेख

वि. सं. 1610 में इनके उपदेश से आवश्यकनिर्णय बालावबोध की प्रतिलिपि की गयी

## सन्दर्भ

1. षट्त्र्यंशेषु (1236) च सार्धपूर्णम... ।  
मुनि जिनविजय, संपा. विविधगच्छीयपट्टावलीसंग्रह, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 53, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, 1961 ईस्वी, पृष्ठ 21, 39, 65, 201 आदि।
2. त्रिपुटी महाराज -- जैनपरम्परानो इतिहास, भाग 2, चारित्रस्मारक ग्रन्थमाला ग्रन्थांक 54, अहमदाबाद 1960 ईस्वी, पृष्ठ 544-546
3. संवत् 1412 वर्षे पौष वदि 12 गुरौ अद्येह श्रीमदनहिलपट्टने श्रीसाधुपूर्णमापक्षीय श्रीअभयचन्द्रसूरीणां पुस्तकं लिखितं पंडित महिमा ( पा? ) केन । शुभं भवतु ।  
शांतिनाथचरित की दाता प्रशस्ति  
मुनि जिनविजय - संपा जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रह, सिंघी जैन ग्रन्थमाला ग्रन्थांक 18, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, 1944 ईस्वी, पृष्ठ 139, प्रशस्ति क्रमांक 310.
4. मूल ग्रन्थ और उसकी प्रशस्ति उपलब्ध न होने से उक्त उद्धरण निम्नलिखित ग्रन्थों के आधार पर दिया गया है :  
H.D. Velankar - Ed. JINARATNAKOSHA, Government Oriental Series, Class C, No. 4, B. O. R. I. Poona-1944 A. D., p. 267-268.  
मोहनलाल दलीचन्द्र देसाई - जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, बम्बई, 1932 ई., पृष्ठ 437.
5. संवत् 1453 वर्षे फाल्गुन सुदिपूर्णमादिने उद्येह श्रीमत्पत्तने श्रीराउतवाटके श्रीसाधुपूर्णमापक्षीय भट्टारकश्रीअभयचन्द्रसूरि -- शिष्यरामचन्द्रसूरि पठनार्थं ज्ञा ( न्या ) यावतारवृत्तिप्रकरणं लल ( ललित ) कीर्तिमुनिना लिखितं शुभं भवतु ।  
A.P. Shah. Ed. Catalogue of Sanskrit and Prakrit MSS : Muni Shree Punya Vijayajis Collection, L. D. Series No.2 Ahmedabad 1963 A.D. p.201, No. 3494.
6. अगरचन्द नाहटा - "विक्रमादित्य सम्बन्धी जैन साहित्य" विक्रमस्मृतिग्रन्थ, संपा. हरिहर निवास द्विवेदी तथा अन्य, उज्जैन, वि.सं. 2001, पृष्ठ 141-148
7. संवत् 1504 वर्षे आसो सुदि 10 सोमवारे साधुपूर्णमागच्छे चन्द्रप्रभसूरिसंताने भ. श्रीपुण्यचन्द्रसूरि-शिष्यगणिवरजयसिंहगणिना राणपुरनगरे सम्यक्त्वरत्नमहोदाधिग्रन्थपुस्तकं लिखितम् ।।  
A.P. Shah, Ibid pp.149-151, No. 2934
8. पुण्यइं लाभइं सुखसंयोग, पुण्यइं काजइं देवगह भोग,  
पुण्यइं सवि अंतराय टलइ, मनवद्धित फल पुण्य लहइ ।  
साधपूनिम पक्ष गच्छ अहिनाण, श्रीरामचन्द्रसूरि सुगुरु सुजाण,

नवरसे फरइ अमृत वखाणि, चतुर्विध श्री संघ मनि आण ।  
 तस पाटधर साहसधीर, पाप पखालइ जाणे नीर,  
 पंच महाव्रत पालणवीर, श्रीपुण्यचन्द्रसूरि गुरु बा गंभीर ।  
 तास पट्ट उदया अभिनवा भाणु, जाणे महिमा मेरु सम्मान,  
 गिरुआ गुणह तणू निधान, श्री विजयचन्द्रसूरि युगप्रधान ।  
 संवत पंनर पांत्रीसु जाणि आसोइ पूनमि अहिनाणि,  
 गुरुवारइ पूक्ष नक्षत्र होइ, पूरव पुण्य तणां फल जोई ।  
 कर जोडी कीरति प्रणमइ, आरामसोभा रास जे सुणइ,  
 भणइ गुणइ, जे नर नि नारि, नवनिधि वलसइ तेह घरबारि ।  
 -- इति आरामसोभा रास समाप्त ।

मोहनलाल दलीचन्द्र देसाई - जैनगूर्जरकविओ, भाग 1, द्वितीय परिवर्धित संस्करण-  
 संपा. जयन्त कोठारी, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, 1986 ईस्वी, पृष्ठ 483-484

9. इतिश्रीआवश्यकसूत्रस्य बालावि ( व ) बोध समाप्तं ।

श्रीरस्तु संवत् 1610 वर्षे वैशाख वदि 3 शुक्रे म. गोवाल लिखितं श्रीसाधुपूर्णिमापक्षे मुख्य  
 भट्टारकश्रीउदयचन्द्रसूरि तत्पट्टे पु ( पू ) ज्यराज्य ( ध्य ) श्रीमुनिचन्द्रसूरि तत्पट्टे  
 गच्छाधिराज भारधुरिंघरश्रीश्रीश्री विद्याचन्द्र ( ?सू ) रिंद्रे एषा पुस्तिका लिखापिता ।।  
 सर्वेषां शश्यानां वाचनार्थं ।।

H.R. Kapadia - Ed. Descriptive Catalogue of the govt. Collection  
 of Mss deposited at the B.O.R.I. Volume XVII B.O.R.I. Poona 1940  
 A.D. p.456.

## पार्श्वनाथ शोधपीठ परिसर, जनवरी-मार्च १९९३

२१-२३ जनवरी, निदेशक, प्रो. सागरमल जैन ने जैन विद्या अध्ययन विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय एवं रिसर्च फाउण्डेशन फार जैनालाजी मद्रास के तत्वावधान में आयोजित व्याख्यानमाला के अन्तर्गत 'इंट्रोडक्शन टू जैनसाधना एण्ड योग' पर तीन व्याख्यान दिये।

इसी अवसर पर आयोजित सेमिनार में प्रो. सागरमल जैन ने 'इक्वेनिमिटी एण्ड पीस' शीर्षक शोधपत्र का भी वाचन किया।

इस सेमिनार में शोधाधिकारी, डॉ. अशोक कुमार सिंह ने 'साधना आव महावीर एज डेपिक्टेड इन उपधानश्रुत' पत्र प्रस्तुत किया।

१५-१६ मार्च, ऋषभदेव फाउण्डेशन द्वारा आयोजित सेमिनार में डॉ. सागरमल जैन ने 'ऋग्वेद में ऋषभवाची ऋचायें' शीर्षक पत्र का वाचन किया।

१६-२० मार्च, प्रो. सागरमल जैन ने नवदर्शन सोसायटी, अहमदाबाद द्वारा आयोजित 'अनेकान्तवाद वर्कशाप' में अनेकान्तवाद के विभिन्न पक्षों पर तीन व्याख्यान दिये।

### पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त

लाडनू : मासिक 'जैन भारती' की संपादिका मुमुक्षु शांता बहन को राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ने उनके 'लेश्या का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' विषयक शोध प्रबन्ध पर पी-एच.डी. उपाधि प्रदान की है।

प्राध्यापक श्री पूरनचन्द्र जैन को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने उनके शोध प्रबन्ध -- 'महाकवि अर्हददास : एक परिशीलन' पर डाक्टरेट की उपाधि प्रदान की है।

# शोक समाचार

महान शिक्षाविद् और वैज्ञानिक डा. दौलतसिंह कोठारी का ४ फरवरी प्रातः ६ बजे हृदयगति अवरुद्ध हो जाने से निधन हो गया। उनके परिवार में पत्नी, तीन पुत्र और पोते-पोतियां हैं। डा. कोठारी की शवयात्रा में बहुत अधिक संख्या में शिक्षाविद्, सरकारी अधिकारी एवं गणमान्य व्यक्ति सम्मिलित थे। उनके पार्थिव शरीर पर राष्ट्रपति डा. शंकरदयाल शर्मा, राजस्थान के राज्यपाल एवं श्रीमती सोनिया गांधी की ओर से पुष्प-मालाएँ चढ़ाई गईं।

पद्म-भूषण एवं पद्म-विभूषण से अलंकृत डा. कोठारी शिक्षा आयोग (1964-1966) तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष रह चुके थे। विशिष्ट उपलब्धियों से परिपूर्ण जीवन में वे जवाहरलाल विश्वविद्यालय के कुलाधिपति, वैज्ञानिक और तकनीकी परिभाषित शब्दों के आयोग के प्रथम अध्यक्ष, गांधी शांति प्रतिष्ठान की शोध-परिषद् की संचालन-समिति के सदस्य और एक दशक तक रक्षा-मंत्री के वैज्ञानिक सलाहकार रह चुके थे।

उनका निधन सिर्फ उनके परिवार और जैन-समाज की ही नहीं, पूरे राष्ट्र की अपूरणीय क्षति है।

## आचार्यश्री आनन्दऋषिजी की प्रथम पुण्यतिथि का आयोजन

श्रमण संघ के द्वितीय पट्टधर आचार्यश्री आनन्दऋषिजी की प्रथम पुण्यतिथि के अवसर पर १७ मार्च, १९६३ को अहिंसा भवन, स्वार में अनेक संस्थाओं द्वारा आयोजित श्रद्धांजली सभा में प्रमुख अतिथि के रूप में बोलते हुए जैन समाज के नेता श्री दीपचन्द्र एस. गार्डी ने आचार्यश्री आनन्दऋषिजी को महान आचार्य बताते हुए कहा कि ऐसे महान पुरुषों के प्रति सच्ची श्रद्धांजली यही है कि बढ़ती हुई हिंसा को रोकने का संकल्प लिया जाय।

## शाकाहारी गाँव पूजाल

मद्रास से १३ किलोमीटर दूर व्यस्त हाईवे से एक सड़क उतरती है। यह गाँव आजकल सुर्खियों में है। इसकी वजह है शाकाहारी। चन्दा प्रभु के नाम से विख्यात यह गाँव अगले दो साल में पूर्ण शाकाहार हो जायेगा। शाकाहार का प्रसार यहाँ इतना हो रहा है कि दूर-दूर तक इस गाँव का नाम लोकप्रिय हो गया है।

यह भी एक विसंगति ही है कि अहिंसा के देश भारत में भी आज शाकाहार का प्रचार-प्रसार करना पड़ रहा है। इसकी वजह है कि भारत में बहुमत माँसाहारियों का है और माँसाहार के खिलाफ मुहिम शुरू की है इस छोटे से गाँव पूजाल ने।

पूजाल में शाकाहार का जो प्रयोग आज हो रहा है ४० साल पहले वह इस्राइल के अमीरियम गाँव में हो चुका है। अमीरियम में शाकाहार का प्रयोग साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए किया गया था। इससे वहाँ २०० मुस्लिम, यहूदी व ईसाई परिवार आपसी भेद-भाव मिटाकर अभिन्न मित्र बन गये थे। तब यह सिद्ध हुआ था कि भोजन भी दुश्मनी को दोस्ती में बदल सकता है।

पूजाल में भी इसी उद्देश्य से शाकाहार की परियोजना चलायी जा रही है। इस परियोजना के मुख्य अधिकारी श्री कृष्णचन्द्र चोरड़िया का कहना है, 'हम यहाँ भी यह साबित करना चाहते हैं कि समान भोजन की आदत लोगों को नजदीक ला सकती है और यह शाकाहार से पूरी तरह सम्भव है।'

श्री चोरड़िया १९८० में विश्व शाकाहार कांग्रेस के दौरान अमेरिका गये थे और तभी उन्होंने ठान लिया था कि वे भारत में भी एक 'शाकाहार गाँव' बनायेंगे। इसके लिए उन्होंने पूजाल को चुना। लेकिन योजना को कार्य रूप देने में पूरा एक दशक लग गया। अप्रैल १९९० में उन्होंने इसे अमली जामा



पहनाया। अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहार यूनियन के महासचिव मैक्सवैल जी.जी ने नवम्बर १९६१ में इस परियोजना की आधारशिला रखी।

आखिर पूजाल को ही क्यों चुना गया इसके लिए ? इसकी वजह है पूजाल में शताब्दियों से चली आ रही जैन परम्परा और १२वीं शताब्दी का जैन मंदिर। अहिंसा का वातावरण वहाँ मौजूद था ही। शाकाहार के लिए यह आदर्श स्थान था। तब से यहाँ पक्की सड़क बनायी गयी, छह कुएं खोदे गये, एक कॉटेज, एक बंगला व एक दो मंजिला मकान भी बनाया गया। योजना यह है कि यहाँ ५०० शाकाहार परिवारों को बसाया जायेगा। यहीं एक डेयरी और एक सब्जी-बगान लगाने की भी योजना है, ताकि यहाँ के निवासियों को यहीं से सभी खाद्य उपलब्ध हो सके।

इस गाँव में जाति-धर्म का कोई भेद नहीं है। यहाँ बसने के लिए केवल शाकाहारी होना जरूरी है। अभी तक २२५ परिवार इस परियोजना से जुड़ चुके हैं। १० परिवार तो एकदम शुरू में ही आ गये थे। २१५ परिवार पिछले साल आये। ११० हिन्दू, ५० जैन, ६ ईसाई और ७ मुस्लिम परिवार इस गाँव में जमीन खरीद चुके हैं ? हर परिवार ने १८०० वर्ग फुट जमीन ६० हजार रुपये में खरीदी है। इनमें ज्यादातर लोग व्यापारी हैं। कुछ डॉक्टर भी हैं।

श्री चोरड़िया सरकार से नाराज हैं क्योंकि वह शाकाहार को प्रोत्साहित नहीं करती। जो सरकार अंडा उद्योग और बूचड़खानों को खुला समर्थन देती हो। वह शाकाहार को भला क्यों प्रोत्साहित करने लगी ?

इस परियोजना का संरक्षक मद्रास हाई कोर्ट के पूर्व मुख्य न्यायाधीश एम.एम. इस्माईल को बनाया गया है। वे हाल में शाकाहारी बने हैं और अब पूरी तरह शाकाहार को ही समर्पित हैं।

पूजाल तो छोटा सा गाँव है। लेकिन यह शाकाहार की 'प्रयोगशाला' बनकर पूरे भारत के लिए एक मॉडल जरूर बन गया है। क्या भारत में और हजारों पूजाल बनेंगे ? ६५ प्रतिशत मांसाहारी भारतीयों के लिए अभी यकीनन अनगिनत पूजालों की जरूरत है।

जैन जगत् से साभार

श्रमण

जनवरी-मार्च १९९३

रजि० नं० एल० ३९

फोन : ३११४६२



transform plastic ideas  
into beautiful shape

## NUCHEM MOULDS & DIES

Our high-precision moulds and dies are designed to give your moulded product clean, flawless lines. Fully tested to give instant production the moulds are made of special alloy steel, hard-chrome-plated for a better finish.

Get in touch with us for information on compression, injection or transfer moulds. Send a drawing or a sample of your design. If required we can undertake jobs right from the designing stage.

Write to :

*NuChem* PLASTICS LTD.

Engineering Division 20/6, Mathura Road, Faridabad (Haryana)

Edited Printed and Published by Prof. Sagar Mal Jain, Director,  
Pujya Sohanlal Smarak Parshvanath Shodhpeeth,  
Varanasi-221005